हरसिंगार

'परिमल' का कहानी संग्रह

प्रकाशक—

हिन्दुस्तानी पब्लिकेशन्स, शाहगंज, इलाहाबाद

प्रथमावृत्ति] १९४९ [मू० ३)

कथाकार

मुद्रक—गयाप्रसाद तिवारी, बी० काम०, नारायण प्रेस, नारायण बिल्डिंग्स, शाहगंज, इलाहाबाद ।

'परिमल' की कहानी प्रतिभा

'परिमल' के एक कहानी संग्रह प्रकाशित करने का एक साल से विचार हो रहा था।

'परिमल', प्रयाग की एक अपने ढङ्ग की अकेली साहित्यिक संस्था है; जिसने अपने संगठन, अपनी रूपरेखा और अपने कार्य से हिन्दी के सामने एक सर्वथा नई दिशा रक्खी है, एक दिशा से स्नेह से अभिषिक्त, कला से आलोकित चुनाव और दलबन्दी से दूर, किसी भी राजनीतिक दल की मानसिक गुलामी को तिरस्कार से देखनेवाली, कलाकार की वैयक्तिक स्वाधीनता के प्रति पूर्णतम श्रद्धा और कलाकार की वैयक्तिक ईमानदारी के प्रति पूर्णतम आस्था रखनेवाली !

कलाकार के वैयक्तिक स्वाधीनता के अर्थ 'परिमल' ने यह कभी भी नहीं लिया कि कलाकार जीवन के प्रति, सामूहिक परिस्थितियों के प्रति उपेक्षाशील रहे, 'परिमल' का यह विश्वास है हर कलाकार अपने व्यक्तित्व, अपनी साधना और अपनी ईमान्दारी के रास्ते से सत्य पद तक पहुँचता है। बादलों को देखकर मोर पाँखें फैला कर नाच उठता है और बैरोमीटर का पारा गिर जाता है। अगर कोई राजनीतिक दल बैरोमीटर से कहे कि वह बादलों को देखकर नाचे और मोर पारे की नाप करे तो वह कला और रसात्मक सौन्दर्यानुभूति के प्रति एक

कठोर व्यङ्ग और साहित्य के प्रति एक अक्षम्य अपराध होगा। 'परिमल' कलाकार की ईमान्दारी को जाग्रत रखते हुए उसे इस अत्याचार से बचाने के लिए एक नया पथ दिखलाता है।

कहानी जिन्दगी की तस्वीरें पेश करने के लिए एक लासानी माध्यम है। 'परिमल' के कलाकारों ने कहानियों के क्षेत्र में सच-मुच ही बड़े अनूठे प्रयोग किए हैं। उनकी कोई एक ढली ढलाई नापजोख नहीं है। अगर किसी ने इमेजिज्म अपनाई है तो किसी ने भावावेशिता। किसी ने सीधी सादी सरल भाषा उठाई है तो किसी ने प्रसाद की अलंकृत शैली। किसी ने व्यङ्ग का सहारा लिया तो किसी ने मनोविज्ञान का! 'परिमल' में कोई बन्धन नहीं! हवा के ताज़े झोंके हैं, जाड़े की खुली लहराती हुई रेशमी धूप! इसीलिए 'परिमल' की कहानी प्रतिभा तरह-तरह के फूलों में निखर उठी है। और परिमल' फूलों से भरी यह अञ्जलि माँ सरस्वती के चरणों पर अर्पित करता है।

संयोजक—

'परिमल' प्रयाग

वक्तव्य

'परिमल' की कहानियों का यह संग्रह आप के सामने प्रस्तुत है। इसमें 'परिमल' के सभी सदस्यों का श्रम है और अपनत्व है। परिमल से सदस्यों के अलावा हमारे सम्माननीय अतिथि पं० माखनलाल चतुर्वेदी और श्री बच्चन, जिनका बराबर परिमल से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, की भी कहानियाँ इसमें संग्रहीत हैं। 'परिमल' के प्रति उनके स्नेह का यह प्रमाण है। 'परिमल' के वार्षिक समारोह के अवसर पर इतनी शीघ्रता से इसे प्रकाशित कर देने का श्रेय हमारे प्रकाशक, श्री गयाप्रसाद तिवारी को है और वे हमारे धन्यवाद के पात्र हैं। इस संग्रह का नाम हम 'हरसिंगार' इसलिये रख रहे हैं कि यह हमारा पहला संग्रह है और हरसिंगार के फूल सब से पहले विहान का स्वागत करते हैं।

आशा है, हम शीघ्र ही 'परिमल' का एक गीत संकलन और हिन्दी उपन्यास पर एक गम्भीर विवेचना भी आपके सामने प्रस्तुत कर सकेंगे।

संयोजक

'परिमल', प्रयाग

पं० माखनलाल चतुर्वेदी

द्विवेदी काल का मध्यान्ह और अवसान, छायावाद का जन्म, उत्थान और पतन और प्रगतिवाद का विहान; अपनी लेखनी से हिन्दी साहित्य के तीन युग नापने वाले पं० माखन लाल चतुर्वेदी न जाने क्यों प्रकाशन से विरक्त से ही रहे हैं। अपनी पीढ़ी से पीढ़ियों आगे रहने पर भी उन्होंने अपनी प्रतिभा के बहुमुखी विकास से हिन्दी पाठकों को अपरिचित रख कर न जाने उनके कौन से पाप का दण्ड दिया है।

बहुत कम लोग यह जानते हैं कि उनकी सूझ सिर्फ लय और छन्द की पगडण्डियों पर ही नहीं चलती, वह कहानी के राजमार्ग पर भी चलने में उतनी ही कुशल है। उन्होंने बहुत सी कहानियां लिखी हैं जिसमें से दो, एक ही प्रकाशित हुई हैं।

'परिमल' के वे सदस्य नहीं हैं, लेकिन 'परिमल' के लक्ष्य, 'परिमल' के कार्य और 'परिमल' से सदस्यों के प्रति उन्होंने अपनों से भी ज्यादा अपनत्व अनुभव किया है। स्वयम् तो वे केवल एक बार 'परिमल' के उत्सव में आने का समय निकाल पाए, लेकिन बराबर उन्होंने 'परिमल' को अपने स्नेह की पांखुरियों में सहेज कर रक्खा है। प्रयाग से दूर रहते हुए भी, अपने अत्यधिक व्यस्त जीवन में भी समय निकाल कर वे हमें अपने बहुमूल्य सुझाव और सहायता देते रहे हैं।

मुहब्बत का रङ्ग

[इस कहानी के पीछे भी एक लम्बी कहानी है। पण्डित जी ने इसे बिलासपुर डिस्ट्रिक्ट जेल में सन् १९२१ में राजबन्दी की स्थिति में लिखा था। वहीं से पण्डित बालकृष्ण शर्म्मा 'नवीन' के पास 'प्रभा' में प्रकाशित होने के लिये भेजा। पण्डित जी के पास इसकी कोई दूसरी प्रतिलिपि न थी और दुर्भाग्य से 'प्रभा' कार्यालय से यह बिना छपे ही खो गई।

कहानी खो गई किन्तु कहानी का प्लाट पण्डित जी की स्मृति में चक्कर काटता रहा। सन् १९३० में जब पण्डित जी जबलपुर सेन्ट्रल जेल में थे, तब उन्होंने दुबारा इस कहानी को लिखा और श्री हरिप्रसाद जी के द्वारा 'विशाल भारत' में प्रकाशित होने को भेजा, किन्तु दुर्भाग्यवश कहानी फिर लापता हो गई। ऊब कर पण्डित जी ने कहानी का कथानक एक तरुण मित्र को दिया, पर वे उस कथानक के साथ समुचित न्याय न कर पाये। अन्त में मार्च सन् १९४० में पण्डित जी ने तीसरी बार इस कहानी को काग़ज़ पर उतारा। इस तरह २० वर्षों के बाद अपने चौथे जन्म में यह कहानी हिन्दी पाठकों के सामने आ रही है।]

(१)

छरहरा जवान। गोरा बदन। चेचक के दाग़। कानों में सोने के दो बहुत पतले बाले पड़े हुए। आंखों में कल रात काजल लगाया था, जो अभी, दूसरे दिन के तीसरे पहर तक धुला नहीं था; मानों खाये हुए प्याज का बू हो, जो मिटने के लिये और वक्त मांगती हो। मांग पट्टी के बाल। हाथ में चांदी की, एक कांच का टुकड़ा लगी हुई अंगूठी। बोलने में उबासी आ रही थी, मानों कहीं से थक कर आया हो, और सोने की तैयारियां कर रहा हो। कुछ ग़ुस्सैल स्वभाव—मानों सारा संसार उसके रूप की हाट में रेहन रखा हो। गर्व से कुछ बनकर, कुछ मटक कर चलने की आदत। बैलों जैसे कांधे हिलें, और हाथी जैसे बेकाबू पांव धूलवाली सड़क पर पड़े कि धुएं जैसी कुछ धूल मुंह तक उड़े, और अंगारे जैसे पांवों पर कुछ धूल राख जैसी चढ़ जाय। आदमी होकर, ज़रा में चिढ़ पड़ने, और थोड़े में रो पड़ने की आदत। झट से चमक उठने का स्वभाव। अपनी औरों पर की हुई भलाइयों की लांबी फ़ेहरिस्त अपनी स्मृति की जेब में; किन्तु उससे दस गुनी बड़ी औरों द्वारा अपने पर किये गये अपकारों की फ़ेहरिस्त। और इस बात का अल्हड़ अज्ञान कि अपकारों के औरों द्वारा होने पर भी, उपकारों की फ़ेहरिस्त अपनी ही तबीयत में छोटी होने के क्या मानी होते हैं। बनकर, सजधज कर, शहर की बीच सड़क पर से निकलने का स्वभाव। विदेशी व स्वदेशी और सर्वदेशी के भाव से परे, बिलकुल ठेठ देशी। वो पतली लाल किनारेदार, पर दाहिने घुटने पर पैवन्द वाली धोती। कुरता ज़रा कुछ मैला सा, पर सफ़ेद मलमल का, जिसके नीचे लाल रेशम की जाकिट। सफ़ेद कुरता मैल से, और रेशम की जाकिट से संयुक्त झांई खाकर, सफ़ेद कम दीखे, बैंगनी ज्यादः। पान ठूंसकर खाने, उसकी लाली की अगुलियां दीवारों पर पोंछने, और उससे बिगड़े ओंठ, कुरते से संभाल कर पोंछने की दक्षता! ओंठों पर पानी। मूछों का कुछ-कुछ आरोप-सा हो ऐसी उम्र,—शायद मरदाने

कपड़े बदन पर होने के कारण। भोपाली ज़ुल्फ़ रखने की खबरदारी, और मुड़ी ज़ुल्फ़ के गालों पर आने पर, उन्हें मुड़ा हुआ रखने के लिये, पीले चन्दन की, दोनों गालों पर दो बूंदें। सिर पर पाग, ज़रा टेढ़ी, बनक कुछ इन्दौरी। रियासत अनुराधापुर के निवासियों के सर पर प्रायः ऐसी ही पाग होती हैं। पाग का रंग मोतिया, पीलेपन की झांई मारता हुआ। किन्तु उसकी नोक पर, कपाल पर लटकने वाली नई सभ्यता की 'द्वितीय चोटी' की कृपा से, तेल की कालिमा। दांतों में, सोने की कीलें। हाथ में, अंगुलियां की पोरां पर मेंहदी लगी हुई। प्रश्न पूंछने पर, गुर्राकर घूरने, उपेक्षा से जवाब देने, और फिर शरमा जाने का लहज़ा। हाथ में बुंदेलखंडी लाठी; पूरबी नहीं जिसमें ऊंची गांठें होती हैं, और नीचे लोहे की सिमियां लगी होती हैं। सीधी,सादी, पीली लाठी; जिसमें ऊपर सूत का, श्रावण की राखी फैशन का, रंगीन बुंदा लगा हुआ, और बीच बीच में चार चमड़े के बन्द लगे हुए। ठिगना क़द, उम्र को छुपाने का संयुक्त हथियार सा; आकर्षण का विक्रम अमर रखने का रामबाण नुसखा सा। देखने में गुस्सा, किन्तु बोलने में मुसकाहट; मानों सतपुड़ा की इन दो घाटियों के बीच, कोई समथल ज़मीन ही न हो, जहाँ स्टेशन बन सके और आदत की गाड़ी ठहर सके। पड़ोस में रहने वाले जासौन गांव के मालगुज़ार के विगड़ैल लड़के द्वारा फेंके हुए, काग़ज़ के चित्रों वाले सिगरेट केसों को जेब में संभाल कर रखने की सावधानता। कपड़े रंगने और उन्हें संवारने की अच्छी थियोरेटिकल जानकारी, और उस पर जहाँ तहाँ मुंह मारना। गुलेल रखने और उसे अपनी नज़र ही की तरह, बेगुनाहों पर, छुपकर आज़माने की कुछ सफल, और अधिक असफल आदत।

और यह कहानी, मैं उन लोगों के लिये तो लिख ही नहीं रहा, जिन्हें दुनियां में फुरसत नहीं है; या फुरसत कम है। इसका चरित्र नायक कोई हो, पाठक किसी को भी मानें, किन्तु इसका पाठक, और इसका आत्मा तो वही हो, जिसे जल्दी नहीं पड़ी है।

हां तो, कपड़े रंगने की जानकारी, मगर जात तेली। नाम भोला, वल्द बच्चू साकिन अनुराधापुर राज का अनुराधापुर शहर। किराये से गाड़ी चलाने का रोज़गार। अनुराधा पुर, गांव होकर, 'राज' होने से शहर। महल में शहर चमके, सड़कों पर गांव। रेल से दूर—६७ मील। हीरापुर स्टेशन से बैलगाड़ी चौथे दिन पहुंचे। सड़क कच्ची।

(२)

तो सुस्ती किस बात की आती है? नसीबन ने कहा, ज़रा संभल कर यों सोचते हुए, मानों अपना हक़ आज़माती हो।

रमज़ान बोला, तुम तो बस वैसी ही हो, बेल जैसी—बेर देखा न बबूल, सर चढ़ने को दौड़ पड़ीं।

जो लिपटता है, वह तो सर तक चढ़ेगा ही। कांटे में बदन कंटवाना, क्या कोई यूंही अपना रोज़गार बनायेगा। दस बीस चुभने वाली बातें सुनाते हो, और फिर सफ़ेद लम्बी डाढ़ी हिलाकर मुसकरा देते हो—यह सर चढ़ाने का न्यौता जो देते हो—अरे हां। जानते हो, आख़िर लड़का है! उसमान फ़ौत हुआ है, तब उसे मुंह लगा रखा है। और आज ज़रा सी बात पर उसे नाराज़ करते हो। खिलौना तुम न ले दोगे, तो कौन ले देगा?

रमज़ान रंगरेज़ है। नसीबन उसकी स्त्री है—रंगरेज़िन। उनके एक ही एकलौता लड़का था—उसमान। कोई ११ बरस हुए, वह आठ बरस की उमर में मर गया। करीमन, उसमान की मां, और रमज़ान की दूसरी औरत, सौर से बाहर होते ही मर चुकी थी। उसमान को, उसकी 'बड़ी मां' नसीबन ने पाला था। उसमान के मरने के बाद, रमज़ान की तबीयत कहीं नहीं लगती थी। वह कपड़े रंगता तो, हौज़ों के बने रंग की तरफ़ ही देखता रहता, और तीसरे पहर से शाम हो जाती। रंगे कपड़े सुखाते समय दरख़्तों की तरफ़ देखता तो उनकी डालियों, उनके पत्तों, और दरख़्त पर बैठे पक्षियों की तरफ़ ही देखता रह जाता। नसीबन ने देखा, पुत्र शोक,

एक ऐसा नाला है, जो उतरती उम्र के रमज़ान से लांघा न जायगा। उसने रमज़ान की याद के पैर रखने, और संकट के आरपार आने जाने के लिये, एक सजीव बुत ढूंढ़ दिया। वह था—बच्चू तेली का लड़का भोला। बड़ी बड़ी आंखें, गोरा बदन, कोई १०-११ बरस की उमर। रमज़ान से बाबा कहता। और मुहल्ले में यदि कोई उसे डांटता तो रमज़ान से आकर लिपट जाता! एक खूंटे से बंधते बंधते पशुओं को, घर और घरवालों से मुहब्बत हो आती है; भोला तो आदमी का बेटा था।

(३)

अब भोला बीस बर्ष का हो चला था। वह रमज़ान से जब बोलता, अधिकार की भाषा में। रमज़ान दिन भर उससे विनोद करता रहता। विनोद ऐसी तदबीर की, जिससे भोला की बेवकूफ़ी की बातें टालने में सहारा मिलता, देरी से की जा सकने वाली बातों को जल्दी से करने की जिद्द करने पर देरी लगाने के लिये समय निकल आता, और किसी अटपटी और अनहोनी सी बात की ज़िद यदि भोला करता, तो विनोद वह समय का वह खाली मैदान था, जो समस्याओं पर सोचने और उन्हें सुलझाने का समय दे देता। विनोद, अकरणीय कार्यों पर, न करने की बात कहने पर, जी पर ठेस न लगने देने, अधिकार का सिंहासन डांवाडोल न होने देने, और चेहरे पर गुस्से से शिकन न पड़ने देने का मुलायम मसाला था।

भोला को उसके एक दोस्त ने न्यौता दिया है कि, अनुराधापुर रियासत से लगी, विशाखापुर रियासत के एक गांव, सोनामाटी को, वह अपने दोस्त की बारात में जावे। तारुण्य, बारात में जाना, मित्र का न्यौता, जाति में 'कुछ हूँ' दिखलाने की साध, और ख़ूबसूरती—इन सब के साथ अगर हो चरम दारिद्रय, तो वह गांवों-खेड़ों की, ख़ून में रवानी और बदन पर मांस रखने वाली तरुणाई को, मौत के घाट ले

जाने तक विद्रोहिनी बना डालता है ! भोला, अपने चाचा के यहाँ रहता था, जो ग़रीब था, और चोरी के अपराध में दो बार सज़ा पा चुका था। उसके न मां थी, न उसके बाप था। नसीबन ही उसकी अम्मा थी, और रमज़ान उसका बाबा। अधिकार की यह बुरी आदत है कि वह अपनी मर्यादा सदैव ही लांघता आया है।

आज, रमज़ान से भोला ने कहा—बाबा, आज हमारी पगिया रंग दो !

'वाह रे लाट साहब के बेटे, न ढंग के कपड़े, न पैरों में जूतियां और पगिया रँग दो !' जवाब पाया।

ना बाबा, जूतों में तो तेल देकर रख दिया है। जूते तो ख़रीद लिये। कपड़े को रेशम की 'जाकट' क्या बुरी है—हां, मलमल का कुरता मैला है, उसे मैं धो लूंगा। न हो, उसे भी तुम रँग दो।

रँग दो ! अरे लाट साहब, शादी तेरी है, या तेरे दोस्त की ! ब्याह में रँगा कुरता तो दूल्हा पेहना करता है। तेरा कुरता कैसे 'रँग दूं'। बारात में जाकर तो तू दुलहिन मांगने लगेगा।

भोला या तो ख़ुश होना जानता था, या ग़ुस्सा होना। विवेक का कोई मध्य बिन्दु उसके स्वभाव के ठहरने के लिये न था ! उसने अपनी बाजी गिरती देख, नसीबन से कहा—देखा न अम्मा तुमने ! आज बाबा, मेरी बात के पैर न जमने देंगे।

रमज़ान ने क़हक़हा लगाया—अरे तेरी बात के पैर न सिर, जमें तो कौन जमें, और कैसे जमें।

नसीबन ने कहा—अच्छा कुरता न रँगो। वह दूल्हा ही का रँगा रहने दो। पगिया तो उसकी रँग दो।

और भोला की ओर मुख़ातिब होकर कहा—बेटा, तेरी पाग ले आ।

पुरुष पर स्त्री के अधिकार की बात पर, मानव जन्म से ही विश्वास करता है। भोला तो बरसों की २० वीं २१ वीं सीढ़ी पर था।

नसीबन उठी, उसने हुक्के में तम्बाकू भरी। अंगारे चढ़ाये। हुक्के की नाल, अपनी ही फूंक से ठीक की। और रंगीन घर की उस साम्राज्ञी ने तम्बाकू की वह नियामत अपने बूढ़े सम्राट के सामने पेश की।

रमज़ान ज़रा खांसा, फिर उसने अपना मुंह अपने गले पर पड़े गमछे से पोंछा, और हुक्के की गुड़गुड़ी मुंह में लेकर धीरे धीरे इस तरह गुड़गुड़ाने लगा, मानों जाड़े के दिनों, देर से लौटकर आया हुआ कबूतर, अपने घोंसले में, अपने परिवार को पंखों में दबा, प्यार से गुरगुरा रहा हो।

बचपन में, एक स्वस्थ बच्चा, अनेक बड़े आदमियों की दौड़ और फुर्ती अपने में रखता है। हुक्के की तम्बाकू अभी सुलगी भी न थी, कि भोला अपनी पाग लेकर आ गया। और उसे रमज़ान के पैरों पर फेंक दिया—मानों वह उसकी आत्ममर्यादा हो, जो पगिया रँगवा लेने के लिये रिश्वत की तरह, पैरों पर बिखेरा गया हो।

रमज़ान ने हुक्के की गुड़गुड़ी मुंह से न हटाते हुए, पाग समेटी, और उपेक्षा से नसीबन की तरफ़ फेंकी। और कहा—यही आठ-नौ जगह फटी पगिया है न, जिसे महज़ अच्छा रँग देने से वह इस तैली के बेटे को, ब्याह में रँगीला दीखने वाला छैला बना देगी।

देखो अम्मा, बाबा कैसी बातें करते हैं—भोला ने कुढ़ कर कहा। और आंसू बहाते हुये अपनी पाग खुद समेटने लगा।

नसीबन बोली—ठहर, ज़रा ठहर तो। आंसुओं से रँगने से तो यह पाग, रंगीन होने से रही। इसे तो रँग से ही रँगना होगा। अच्छा कौनसा रँग चाहिये पाग का?

भोला बोला—बनिया बैठने तो देता नहीं, और कहे झुकता सा तौलना! बाबा कुछ बोलें भी तो!

अरे तो बाबा के बेटे, आज तो रँग तैयार नहीं है। रँग के तैयार करने में चौबीस घण्टे लगेंगे। वक्त की घड़ियां भी क्या कोई

बिस्तरा है, जिसे जब चाहा लपेट लिया, और जब चाहा फैला दिया ! और तेरी अम्मा क्या हो गई—

मैंने तो अभी कुछ नहीं कहा—नसीबन ने ज़रा तमक कर कहा। यह चीनी मिट्टी की मांठ में रँग तैयार जो रखा है ?'

रमज़ान, ज़रा खांसकर बोला—वह तो मोतिया रँग है।

भोला का मन, निराशा के बरसाती नाले में डूबते, थाह पागया। बोला—मुझे भी तो मोतिया रँग का ही पाग चाहिये।

नसीबन बोली—लो अब तो रँग दो।

रमज़ान ने हुक्का हटा दिया। और अपनी मिरजई के बन्द खोलते हुए बोला—भोला लड़का है। मगर तुम तो नन्हीं नहीं हो। जानतीं हो कि वह चीनी मट्टी की मांठ है। रियासत के फरमांरवा की पागें रँगने के लिये वह रँग तैयार किया गया है। घौड़ा बादशाह का हिनहिनाये और कल्लू मोदी अपनी खुड़जी उस पर रखने दौड़े,—अजब मसल है ! भोला को बारात में क्या जाना है, तुम्हें उसे सिंगारने के लिये चारों खूंट जागीर भी छोटी मालूम होती है।

नसीबन ने, पगिया उठाई और पानी में भिगोने लगी।

भोला बोला—अम्मा, मैं एक तो पगिया मोतिया रँग में रँगवाऊँगा, दूसरे बाबा जान; मुझे मेरी पाग वैसे ही बाँध कर देंगे, जैसी नवाब साहिब की पागें बांधा करते हैं और तीसरे स्वयं बाबा रँगेंगे, तो पगिया रँगी जायगी—नहीं तो भोला बारात न जायगा।

सन्धि की शर्तें रख दी गईं। बूढ़ा रमज़ान, अपना निर्मल हास्य बखेर कर बोला—बादशाह सलामत की पाग, भिनसारी रात रँगी जायंगी। और तेरी तो पहले रँगी जानी चाहिये। फिर नसीबन से बूढ़ा बोला—यह क्या मज़ाक करती हो ? यह पगिया कैसे रँगी जायग ?

नसीबन बोली—नवाब साहब की पगिया ज़िन्दगी भर रँगी है, और ज़िन्दगी भर रँगेंगे। क्या उस रँग में एक डोब, किसी ग़रीब की पगिया को नहीं मिल सकता ? और आखिर नवाब साहब की पागें भी तो

तुम्ही बंधी-बंधाई, डब्बों में बन्द करके दोगे ? तब क्यों न तुम, एक पाग इस 'छोरे' की, उसी ढब पर बांध दो।

रमज़ान चिढ़ा—बोला औरत जात जो हो ! क्या जानो नमक की क़ीमत, और रोटियों के हीले को। मैं तो रईस की पाग के रँग में, भोला की पाग नहीं डुबोऊँगा।

नसीबन ऐसे चौंकी, जैसे उसकी आंखें खुल गईं। बोली तुम मर्द हो।

और भोला की पाग उठाकर गीली ही, भोला के पास फेंक दी। और कहा जा रे बेटा। बिना माँ बाप के छोरों को, पाग रँगते वक्त रँगरेज़ भी यह मालूम कर देना चाहते हैं, कि वे बिना माँ बाप के हैं, और ग़रीब हैं। ग़रीब, ग़रीब को धुतकारे, और अमीर अमीर की सी कहे, इसे दुनियां कहते हैं।

भोला के मुंह को लकवा मार गया। गीली पाग, नसीबन की देहरी पर ही पड़ी छोड़कर वह चुपचाप चला गया।

(४)

रमज़ान बोला—लड़के की आंखों पर गुस्सा भरा था।

नसीबन ने कहा—गुस्सा किस पर करेगा अभागा।

रमज़ान—क्यों ?

नसीबन—पूछते क्यों हो ? पगड़ी पीछे बारह आने ही तो मिलते हैं। इन पैसों भी क्या भोला महंगा है ?

रमज़ान—वह रईस है। उसके रंग में मैं इसकी पाग कैसे डुबा दूँ ?

नसीबन—कैसे ? वैसे ही, जैसे मैं ज़रूरत पड़ने पर अपने बेटे उसमान की पाग डुबो देती। उसमान—

बूढ़ा हिल उठा—उसमान !

नसीबन ने कहा—भोला ने तुमसे उसमान का दुलार पाया है। तब पाग रँगवाने और बंधवाने कहां जावे।

(५)

दलील वज़नदार थी। हाईकोर्ट का फैसला था। दावा मय ख़र्च के स्वीकृत हो गया।

+ + +

अनुराधापुर के रईस, सोनामाटी के पास के अपनी रियासत के गांव, गोलन डोह से शिकार करके लौट रहे थे। नवाब साहब के साथ, धारनीगढ़ के राजा शार्दूल सिंह, दो शिकारी, दो सरदार, और एक घुड़सवारों की टुकड़ी थी। जो मोहनपुर के नाले से, सरकारी सवारी गुज़र रही थी, तब बैलगाड़ियों के पास खड़े लोगों के झुण्ड के बीच, एक गोरे से छोकड़े को उन्होंने अपनी सी, ठीक अपनी सी पाग बांधे देखा। पाग का बांध वही था, बनक वही थी, पेच वैसे ही कसे थे, रंग भी वही था। रईस ने अपने सर से पाग उतारी और देखा। यह रईस की पाग थी, जो सर से उतर रही थी। दोनों मिलाया! दो पागें, एक भीड़ में खड़े किसी खूबसूरत उठाईगीरे की और दूसरी अपनी दोनों, आपस में, अगर राई बढ़ती न थीं, तो तिल घटने के लिये भी तैयार न थीं। दुखती चोट, और अनहोना दुर्भाग्य मानों ऐसी चीजें हैं जो होकर रहें। जब रईस ने अपनी पाग उतारी तब भोला मुसकरा दिया। दो घंटे के बाद जिबह किये जाने वाले जानवर भी हरी घास को, बड़े स्वाद से खाते हैं।

एक सिपाही घोड़े से उतरा। उसने नाले की घाटी पर चढ़ती हुई बैलगाड़ियों को रास्ते ही में ठहराया। उन सब गाड़ियों में तीन ऊपर चढ़ चुकी थीं। दो घाटी से फिसलकर नाले में वापस नीचे आ गिरी थीं। और दो अभी चढ़ी ही न थीं। अब इसके बाद से पूंछ तांछ शुरू हुई।

किस गांव की बारात है?

अनुराधापुर की ग़रीब परवर!

कौन ज़ात हो ?

तेली सरकार !

क्या पेशा करते हो ?

अपना ही पेशा—तेल बेंचते हैं !

कहां जा रहे हो ?

घर—अनुराधापुर ही तो चल रहे हैं ।

फिर, मोतिया पाग के छैल छबीले की तरफ घूम कर, सिपाही पूछने लगा—

तू कहां रहता है बे लौंडे ?

वहीं अनुराधापुर !

किसका लौंडा है ?

तेली का लड़का हूँ ।

क्या नाम है तेरा ?

भोला ।

बाप का नाम ?

बच्चू ।

तेरा बाप क्या करता है ?

दूल्हे के बाप ने, बीच ही में कहा, इसके मां बाप कोई नहीं है सरकार । ग़रीब है बेचारा ।

सिपाही ने फिर पूछा—

तेरी पाग किस रँगरेज़ ने रँगी है बे ?

रमज़ान बब्बा ने ।

सिपाही ने झट से पाग उतारी और एक सा रंग, एक सी बनक, एक सी सुन्दरता देखकर भी यह ग़रीब की पाग थी, जिसे सिर से सदा के लिये उतारते हुये भी, सिपाही के हाथ में, झिझक की जगह न थी ! सिपाही ने घूर कर लड़के को इस तरह देखा, मानों खा जायगा । भोला सहम गया ।

दोपहर होता आ रहा था। मजदूर, खेतों में गेहूँ काटने में जुटे हुए थे। छोटे बच्चे, पशु-धन को पानी पिलाने नाले पर ले जा रहे थे। आमों के मौर महक भी रहे थे, और झर भी रहे थे। सड़क की धूल उड़कर, राहगीरों के मुंह, उनकी आंखों और आंखों की पलकों के बालों तक को मटमैला किये हुए थी। गांव की मज़दूरिनें, गेहूँ की पूलें बांधते हुए गा रही थीं—

जी में एक पहेली दूखी।
दुनिया आज हरी कल सूखी।

और शास्त्रों को रटे हुए पण्डित जी गेहूँ के फूलों की भीख मांगते हुए, एक हाथ में सुलगी हुई चिलम और बगल में डंडा दबाये अपने ज्ञान को तुलसी की इस वाणी के द्वारा औंधाये चले जा रहे थे।

धरा को सुभाव इहै तुलसी
जो फरा सो झरा, जो बरा सो बुताना

और खेतों में, छोटे छोटे बच्चे, वृक्षों पर चहकते पक्षियों को ढेले मार मार कर उड़ा रहे थे। हर इंच, हर मंज़िल, दर पर दर, और पग पर पग, मौसम की तरह बैलगाड़ियां धीरे धीरे चली जा रही थीं।

(७)

सीतलासहाय कांस्टेबल रमज़ान को खोजता हुआ बोला—चलो अब्बा तुम्हें दरबार ने बुलाया है !

नसीबन ने पूछा—क्या नवाब साहब बहादुर आ गये।

सिपाही—हां, अभी लौटे हैं।

रमज़ान—हमारा रईस बड़ा नामी है। परसूं कहीं पागें देखी, तबियत बहाल हो गई। फरमाया—इस बार पागों की रँगाई नहीं मिलेगी, इनाम मिलेगा। रमज़ान बब्बा, धारनीगढ़ के राजा साहब, इन पागों की रँगाई-बंधाई देखकर बाग़ बाग़ हो गये हैं। कल आकर

इनआम ले जाना। सो उसी का बुलावा आया दीखे है। यह कहकर, कांस्टेबल से कहा—हवालदार साहब, बैठो, चलता हूँ।

हवलदार बोला—सरकार ने जल्दी ही याद किया है। चलो वे इस वक्त दफ्तर में हैं।

रमज़ान ने मिरजई पहनी। वह उसके पास उसके ईमान की तरह एक थी। सिर पर, उसकी बात की तरह एक ही रँग चढ़ा था और उसके अनुभव की तरह पुरानी थी। और डाढ़ी पर हाथ फेर कर, वह अपने पेट की मज़दूरी की लाचारी से रँगे हाथों, चल पड़ा महल की तरफ़।

× × ×

फरमा रवां, कुर्सी पर बैठे थे। और एक टेबल पर सजाकर ६ पागें रखी थीं। कहना न होगा, कि इन छै पागों में से रईस की एक पाग, हटा दी गई थी, और भोला के सर से उतारी हुई पाग, इनमें मिला कर रख दी गई थी। नवाब साहब ने पूछा—ये सब पागें हमारी ही हैं न रमज़ान?

रमज़ान—आप ही की तो दीखती हैं हु.ज़ूर। छै पागें ही तो परसूं रंग कर, ख़ादिम दे गया था।

नवाब—तब, तुम चोर हो, बेईमान हो।

रमज़ान का स्वभाव, इस वक्त आंवलों की मोट था, जो फैल गया था, और समेटे न सिमट रहा था। उसने धीरज संभाला और कहा—

रमज़ान ने हु.ज़ूर का नमक खाया है। उसकी पीढ़ियों में बेईमानी नहीं है।

नवाब—दरबार के पागों की धुलाई रँगाई बँधाई तुम्हें क्या दी जाती रही है?—

रमज़ान—बारह आना फ़ी पाग ग़रीब परवर।

नवाब—और उस तेली के लौंडे ने क्या धुलाई दी थी।

रमज़ान की गांठ अब सुलझ गई। वह धीरज से बोला—हु.जूर वह छोटा सा बच्चा है।

धारनीगढ़ के राजा ने इसी वक्त कहा—आपका रंगरेज़ आपको भी छोटा बच्चा समझता है, और बहलाने की कोशिश कर रहा है!

नवाब—बेईमान, साफ़ साफ़ बता। तेली के लौंडे की पाग का रंग, और बनक, दरबार की पाग के रंग की क्यों है?

रमज़ान—ख़ता माफ हो सरकार, यह नमक का, रोटियों का, रंग है, और वह मुहब्बत का रंग है। वह मेरे बेटे की तरह है।

इरादों के काले, ज़बान के खूंख़ार, क़लम के शाहंसा; पैसों के भरपूर, रहम के खाली, और टूट पड़ने में जंगली जानवर को अधिकारी कहते हैं।

घोड़े का हंटर उठा नवाब ने कहा—मुहब्बत का रंग, हरामज़ादे। ले तुझे इस शायरी का मज़ा चखाऊँ।

रमज़ान ने छत की तरफ देखा—मानों शैतान के घर में खुदा को ढूंढ रहा हो। सिर ऊँचा किया—मानों प्रेम सर्वनाश के समय भी दामों से ऊपर उठ कर खड़ा रहना चाहता हो।

रमज़ान ने कहा—माफ़ करो ग़रीब परवर, ग़रीबों को बेटे बेटी समझें अन्नदाता। रईस, समुद्र की तरह इस समय, अपने आवेश में .खुद डूब चुका था। रमज़ान पर—

हंटर, फिर हंटर, फिर हंटर! रमजान खड़ा रहा। महल के पत्थर पिघल उठना चाहते थे। सारे अधिकारी मानों सोचते थे कि आज राजधानी के सुहाग इन्साफ़ पर हंटर पड़ रहे हैं। पर बिकी जीभ, और कायर कलेजे से टुकुर-टुकुर देख रहे थे।

चोर हमारी पाग चुराकर उस तेली के लौंडे को दे दी?

रमज़ान धक्के मार कर निकाल दिया गया। उसकी मिरजई खून से लथ-पथ थी।

मसजिद में नमाज़ पढ़ी जा रही थी। मंदिर में पूजन हो रहा था। गिरजा घर का घंटा बज रहा था। और रमज़ान अनुराधापुर की सड़क पर इस तरह जा रहा था, मानों हिमालय शिखर से ठुकराया हुआ हिम-खंड है, जो गंगा बनता चला जा रहा हो।

गाड़ियां लौटीं कि, ख़बर देने भोला, रमज़ान बब्बा के घर गया। कान्स्टेबल द्वारा बुलावा सुनते ही वह राजमहलों की ओर दौड़ा।

रास्ते में लड़खड़ाता, कराहता, और आंसू और ख़ून साथ साथ टपकाता रमज़ान मिल गया। उसे ख़ून से लथ-पथ देख कर भोला उसके पैरों में लिपट कर बोला—यह क्या है बाबा—

रमज़ान बोला—मुहब्बत का रंग ऐसा ही हुआ करे है बेटा!

श्री 'बच्चन'

कहा जाता है कि कभी कभी उन चीज़ों पर भी थोड़ी खीज आती है, जिन्हें हम बहुत प्यार करते हैं। बच्चन के गीत बहुत प्यारे हैं, बहुत प्यारे। लेकिन कभी कभी यह सोचकर उन गीतों पर गुस्सा आता है कि उन्होंने हमसे कहानी कार बच्चन छीन लिया। जिसने भी बच्चन की 'निशा निमन्त्रण' वाली कहानी पढ़ी है, वह स्तब्ध रह गया है. यह सोच कर कि यदि बच्चन ने कहानियाँ लिखी होतीं तो क्या होता ? जिस वक्त हिन्दी कहानी का इतिहास लिखा जायगा, उस वक्त बच्चन का नाम उन लोगों में लिखा जायगा जो हिन्दी में कहानी के लिए एक नई दिशा खोज सकते थे, लेकिन जिन्होंने निर्भयता से हिन्दी की कहानी से यह सौभाग्य छीन लिया।

बच्चन की यह कहानी उनकी प्रारम्भिक रचना काल की है, लेकिन इसमें वही तड़प, वही सीधेसादे तौर से दिल को मरोड़ देने वाला दर्द है जो उनके गीतों में। शायद टेकनीक के लिहाज़ से हिन्दी की यह कहानी विश्वसाहित्य में अनूठी है, और कितना बड़ा विद्रोह छिपा है इन चन्द सीधेसादे वाक्यों में।

बच्जन जी वर्ष भर पहले 'परिमल' के सम्मानित सदस्य थे। उसके बाद वे बहुत व्यस्त हो गए। लेकिन आज भी वे 'परिमल' के उतने ही अपने हैं, 'परिमल' का उन पर और उनका 'परिमल' पर उतना ही अधिकार और स्नेह है।

चुन्नी-मुन्नी

मुन्नी और चुन्नी में लाग-डाट रहती है। मुन्नी छ वर्ष की है, चुन्नी पाँच की। दोनों सगी बहनें हैं। जैसी धोती मुन्नी को आए, वैसी ही चुन्नी को। जैसा गहना मुन्नी को बने, वैसा ही चुन्नी को। मुन्नी 'ब' में पढ़ती थी, चुन्नी 'अ' में। मुन्नी पास हो गई, चुन्नी फेल। मुन्नी ने माना था कि मैं पास हो जाऊँगी तो महावीर स्वामी को मिठाई चढ़ाऊँगी। माँ ने उसके लिए मिठाई मंगा दी। चुन्नी ने उदास होकर धीमे से अपनी माँ से पूछा, 'अम्मा क्या जो फेल हो जाता है वह मिठाई नहीं चढ़ाता ?'

इस भोले प्रश्न से माता का हृदय गद्‌गद् हो उठा। 'चढ़ाता क्यों नहीं बेटी', माँ ने यह कहकर उसे अपने हृदय से लगा लिया। माता ने चुन्नी के चढ़ाने के लिए भी मिठाई मँगादी।

जिस समय वह मिठाई चढ़ा रही थी उस समय उसके मुंह पर संतोष के चिह्न थे, मुन्नी के मुखपर ईर्ष्या के, माता के मुख पर विनोद के और देवता के मुखपर झेंप के !

श्री इलाचन्द्र जोशी

हिन्दी कथा साहित्य का एक अनोखा और बहुत हद तक रहस्यमय व्यक्तित्व। लम्बा तड़ंगा पहाड़ी शरीर, चौड़ा ऊँचा माथा और आंखों पर काले फ्रेम का बहुत मोटा चश्मा, शायद जिसने असली जिन्दगी और लेखक की आंखों के बीच में शीशे की मोटी दीवार खड़ी कर दी है। सदा चिन्तनशील, गम्भीर और खोई हुई सी मनस्थिति, लेकिन कन्धे पर लहराते हुए लम्बे लम्बे बाल बतलाते हैं कि यह व्यक्ति भी कभी बहुत तरंगी, मन मौजी, भ्रमणशील और रोमाण्टिक रहा होगा।

अपने बड़े भाई, प्रसिद्ध डा० हेमचन्द्र जोशी के कारण बचपन से ही बंगाली, संस्कृत तथा अन्य भाषा के साहित्य का गम्भीर अध्ययन शुरू हो गया था। बाद में फ्रेन्च और अंग्रेजी का साहित्य छान डाला। जर्मन भी सीखी। इधर मैट्रिक की परीक्षा हो रही थी और उधर रवीन्द्र और गेटे के पन्ने उलटे जा रहे थे।

फ्रेन्च और जर्मन तथा अंग्रेज़ी साहित्य ने मनोविज्ञान की गहराइयों की ओर आप का आकृष्ट किया। प्रथम महायुद्ध, वर्ग संघर्ष, राजनीतिक उथलपुथल आदि ने मनुष्य के अन्तर्जगत की गहराइयों में जो भयंकर प्रलय मचा दी थी, अपने उपन्यासों में आपने उसका विवेचन किया, विश्लेषण किया। लेकिन वह केवल

निष्पक्ष विवेचन न था आप ने रचनात्मक समाधान की ओर भी बराबर संकेत किया। "विजनवती" से लेकर "निर्वासित" तक बीसवी सदी की मानव चेतना का एक गम्भीर विश्लेषण है। लेकिन अभी तक इन कृतियों को इनकी उचित पृष्ठभूमि और गम्भीर महत्व की दृष्टि से समझा ही नहीं गया।

कहानियों में अक्सर आप घटना-चक्र से हट कर विचार-चक्र (Reveries) में डूब जाने के आदी रहे हैं। इधर परिमल में आने के बाद आपने 'खण्डहर की आत्माएं' नाम से अपने संस्मरणों को क्रमशः संगम में प्रकाशित किया है। इसमें आपकी लेखनी का एक नया रूप सामने आया है, जो कहीं अधिक मर्मस्पर्शी और रससिक्त है। आप की संस्मरण-शैली अपने ढंग की अकेली है, जिसमें जगह जगह पर बड़ी मार्मिक चोटें हैं।

फोटो

श्याममनोहर सक्सेना किसी इंश्योरेन्स कम्पनी का एजेंट था। दो-तीन दिन पहले उसकी स्त्री उमा घर से उसके पास आ पहुँची थी। आज सुबह इधर-उधर दौड़-धूप करने के बाद जब वह थका हुआ मकान पर पहुँचा, तो भोजन करने के बाद पलंग पर आराम करने के इरादे से लेट गया। वह अच्छी तरह लेटने भी न पाया था कि उसकी स्त्री ने आकर उसके पलंग के पास खड़े होकर कुछ व्यंग से दबी हुई मुस्कान के साथ और कुछ गम्भीरतापूर्वक कहा—"मुझे पता नहीं था कि इस बीच किसी दूसरी स्त्री से तुम्हारा हेल-मेल हो चुका है।" उसके कण्ठस्वर में व्यंग कितना था और दर्द कितना, इसका ठीक-ठीक हिसाब बताना कठिन है।

श्याममनोहर कौतूहलवश करवट बदलकर उस की ओर मुख करके बोला—"अब पता कैसे लगा, कुछ मैं भी तो जानूँ!"

"जान कर क्या करोगे! चुपचाप लेट जाओ, आराम करो।" यह कहकर उमा चलने लगी। श्याममनोहर पहले समझे था कि उमा परिहास कर रही है। पर अब उसके मुख का भाव और बोलने का ढङ्ग देख कर उसे जान पड़ा कि मामला कुछ गहरा है। उसने उसका अञ्चल खींच कर उसका हाथ लेटे ही लेटे पकड़ लिया और कहा—"नहीं, बताना ही होगा!"

"छोड़ो, मुझे जाने दो!" कहकर वह अपने को छुड़ाने की चेष्टा करने लगी। पर श्याममनोहर ने उसे बड़ी मजबूती के साथ पकड़ लिया और बलपूर्वक उसे पलङ्ग पर बिठा कर उसने पुचकार भरे शब्दों में कहा—"मुझे साफ-साफ़ बताओ कि तुम क्या कहना चाहती हो! किस स्त्री से मेरा हेलमेल होने की बात तुम कहती हो?"

उमा बहुत कुछ शान्त हो गई थी, तथापि वह नीचे की ओर मुँह किए रही और कुछ भर्राई हुई-सी आवाज में बोली—"जिस स्त्री का फ़ोटो तुम रखे हो उसकी बात मैं कहती हूँ, और किसकी बात करती हूँ!"

"फ़ोटो! मैं किसी स्त्री का फ़ोटो रखे हूँ! हाः! हाः! हा! तब तो तुम्हारी बात पक्की है!" बहुत देर तक श्याममनोहर ठहाका मार कर हँसता रहा।

पर उमा इस अट्टहास से तनिक भी विचलित न हुई और पूर्ववत गम्भीर होकर बोली—"अगर मैं अभी निकालकर दिखा दूँ तब?"

"अच्छा दिखाओ!"

उमा उठ खड़ी हुई और थोड़ी देर में पोस्ट-कार्ड साईज का एक फ़ोटो, जो बहुत दिनों से किसी अरक्षित स्थान में पड़े रहने के कारण कुछ धुँधला हो गया था, हाथ में लेकर श्याममनोहर को दिखाने लगी। फ़ोटो एक सुन्दरी तथा फैशनेबुल नवयुवती का था। उस धुँधले चित्र में भी युवती के आश्चर्यजनक सौन्दर्य की तीक्ष्णता स्पष्ट झलक रही थी। उसकी भाव-विभोर आँखों की मार्मिक दृष्टि से एक असहनीय तीव्रता और साथ ही एक सकरुण कोमलता की छाया-रेखाएँ जादू की किरणों की तरह विकीर्ण हो रही थीं। साधारण फैशनेबुल स्त्रियों में जो सुसज्जित गुड़ियों का सा निर्जीव भाव पाया जाता है, वह उसमें नहीं था। उसके चेहरे में रहस्यमय भाव की उद्दाम सम्मोहिनी दर्शक को बरबस मन्त्र-मुग्ध सी कर देती थी। कुछ क्षण के लिये श्याममनोहर विस्मय-विमुग्ध होकर उस चित्र को देखता रहा। फिर अकस्मात वह खूब जोर से हँसा और

बोला—"यह निर्जीव चित्र तुम्हारे मन में ऐसी ज़बरदस्त ईर्ष्या जगाने में सफल हुआ है, यह सचमुच आश्चर्य की ही बात है। पर तुम्हारी ईर्ष्या अकारण है। इस स्त्री के साथ हेलमेल की बात तो दूर रही, उसे मैंने कभी अपनी आँखों से देखा तक नहीं।"

"तब यह फ़ोटो यहाँ कैसे आया?"

"यही आश्चर्य तो मुझे भी हो रहा है। हाँ, याद आ गया—एक बात सम्भव हो सकती है। मैं जब इस मकान में आया था तो जो महाशय मुझसे पहले इस मकान में रहते थे उनके बहुत से फ्रेम चढ़े हुए चित्र वहाँ एक कोने में रखे पड़े थे। मेरे आने के कुछ दिन बाद वह उन सब चित्रों को उठा कर ले गए थे। यह बिना फ्रेम का चित्र भी उन्हीं के घर की किसी स्त्री का होगा।"

"हूँ! ठीक है!" कह कर उमा बाहर चली गई। स्पष्ट ही उसे अपने पति की बात पर विश्वास नहीं हुआ था।

उमा के चले जाने पर श्याममनोहर ने चित्र को फिर एक बार गौर से देखा। वास्तव में जिस मोहिनी का प्रतिरूप उतारा गया था वह ऐसा सम्मोहक था कि उसकी आँखें 'हिप्नोटाइज़' किए गए व्यक्ति की तरह उसपर बहुत देर तक गड़ी रह गईं। उमा ने फिर एक बार जब कमरे में प्रवेश करना चाहा तो पति को उस चित्र में तन्मय देख कर वह दुःख, क्रोध और ईर्ष्या से क्षुब्ध होकर दरवाजे से ही लौट कर चली गई। श्याममनोहर ने कुछ समय बाद चित्र को उठाकर अपने सिरहाने, बिस्तर के नीचे छिपा कर रख दिया, और एक लम्बी साँस ली।

उस दिन रात को उमा अपने पति से नहीं बोली। श्याममनोहर ने उसे कितना ही समझाया पर उसका समझाना सब व्यर्थ सिद्ध हुआ। श्याममनोहर को अपनी पत्नी के उस प्रचण्ड मान के कारण दुःख के साथ एक कौतुकजनित सुख का भी अनुभव हो रहा था। वास्तव में यह बात कौतुकपूर्ण ही थी कि जिस चित्र के सम्बन्ध में उसे किसी प्रकार की जानकारी तक कभी न रही, उसे स्वयं कहीं से आविष्कृत करके उसकी

पत्नी कल्पनातीत ईर्ष्या से दग्ध हो रही है। वह बीच-बीच में मुक्त हास्य से ठठाकर अपनी स्त्री के काल्पनिक भूत को भगाने की चेष्टा कहता था, पर उसकी सब युक्तियाँ उस रात निष्फल गईं।

तीन-चार दिन बाद उमा शान्त हो गई, पर श्याममनोहर के मन में उस अज्ञाता तथा अपरिचिता मायाविनी के चित्र ने जो अशान्ति उत्पन्न कर दी थी वह बढ़ती चली गई। अकेले में वह उस चित्र को देखा करता करता और फिर बड़ी सावधानी से उसे छिपाकर रख देता। वह सोचता कि चित्र की वह मायाविनी कुछ ही दिन पहले तक उसी मकान में रहती होती जिसमें वह अब स्वयं रहता है! वह महिला वास्तव में फैशनेबुल है, या फोटो खिचाने के लिये फैशनेबुल बन गई थी? उसकी दिन-चर्या क्या रहती होगी? उसके पति की जीविका क्या है? वह बहुत धनी तो नहीं होगा, क्योंकि केवल १३) माहवार किराए के मकान में रहने वाले व्यक्ति की आर्थिक परिस्थिति का अनुमान लगाना कठिन नहीं है, इसी तरह की चिन्ताओं में वह निमग्न रहा करता।

एक दिन वह किसी एक चौराहे पर ताँगे पर से उतर कर किसी विशेष व्यक्ति को अपनी इन्श्योरेन्स कम्पनी के जाल में फँसाने के इरादे से फुटपाथ की बांई ओर से होकर पैदल चला जा रहा था। अकस्मात एक व्यक्ति जिसकी आयु ३५ वर्ष के करीब होगी, उसके सामने आ खड़ा हुआ और उसके प्रति हाथ जोड़ कर बड़े प्रेमभाव में मुस्कराते हुए बोला—"नमस्कार! कहिये किस ओर तशरीफ ले जा रहे हैं?"

श्याममनोहर क्षण भर के लिये विस्मृत-सा रहा, फिर तत्काल ही उस नवागत व्यक्ति को उसने पहचान लिया। वह वहीं व्यक्ति था जो पहले उसी मकान में रहता था जिसमें श्याममनोहर अब रहने लगा था। अपने चित्रों को लेजाने के लिये जब वह आया था तो श्याममनोहर से उसका थोड़ा बहुत परिचय हो गया था।

श्याममनोहर ने प्रत्युत्तर में कहा—"नमस्कार! आप मजे में तो हैं? आप इधर कैसे पधारे हैं?"

"मैं यहीं रहता हूँ। सामनेवाली गली में मेरा मकान है। आइए, तशरीफ़ लाइए, ज़रा चलकर मेरा नया मकान देख तो लीजिए।"

श्याममनोहर जरा हिचकिचाया। पर उसके नव परिचित मित्र ने बड़े आग्रह के साथ कहा—"यही दो कदम पर मकान है। आप एक बार अवश्य चलकर मुझे कृतार्थ करें।"

इस आग्रह और अनुरोध से विवश होकर श्याममनोहर उसके साथ चला। चलते चलते उसने अपने नये मित्र से पूछा—"माफ़ कीजिए, आपका नाम मैं भूल गया।"

"मुझे रामसरन कहते हैं।"

"आपके साथ आपके घर और कौन-कौन रहते हैं?"

"मेरी माँ है और मेरी बहन।"

"माफ़ कीजिएगा, पर आप विवाहित तो अवश्य होंगे?"

"जी नहीं, मैंने अभी विवाह नहीं किया है, और न कभी करने का इरादा है।"

"आश्चर्य है!"

"यह मेरा मकान आ गया। आइए, पधारिए!"

रामसरन नामधारी महाशय श्याममनोहर को सीधे ऊपर ले गए, और एक सुसज्जित कमरे में उसे लाकर बिठा दिया। कमरे की दीवारों पर इतने अधिक चित्र टँगे थे कि मुश्किल से कोई स्थान बाकी बचा होगा। चित्र सभी प्रकार के थे। शिव के ताण्डव-नृत्य तथा राधा-कृष्ण की युगल मूर्तियों के चित्रों से लेकर सिनेमा स्टार्स तक, सभों की प्रतिछवियाँ वहाँ विराजमान थीं। महात्मा गांधी से लेकर पं० गोविन्दवल्लभ पन्त तक सभी नेता वहाँ शोभायमान थे। पारिवारिक चित्रों की संख्या भी कुछ कम नहीं थी। जिस मोहिनी के चित्र ने श्याममनोहर पर गहरा प्रभाव डाल रखा था उसका एक बड़े साइज का फ़ोटो भी एक कोने में टँगा हुआ था।

श्याममनोहर कुछ देर तक चित्रों को देखता रहा। इसके बाद उसने

अपने नव-परिचित मित्र से पूछा—"आप यहाँ क्या आफ़िस में काम करते हैं ?"

बड़ी नम्रता और-प्रेमभाव से श्रीयुत रामसरन ने उत्तर दिया—"जी नहीं, मैं बहुत-से पत्रों का सोल एजेन्ट हूँ। अखबारों की एजेन्सी से और आपकी कृपा से मैं दो रोटियाँ कमा लेता हूँ।"

श्याममनोहर यह प्रश्न पूछने के लिये विशेष उत्सुक हो रहा था कि "आपकी बहन क्या करती है ?" पर उसे साहस नहीं होता था।

"आप जरा देर तशरीफ़ रखे रहें, मैं अभी आता हूँ।" यह कहकर रामसरन जी भीतर चले गए। श्याममनोहर अकेले बैठे-बैठे छत की कड़ियों को गिनने लगा। उसका हृदय अकारण ही किसी अजानित आशा अथवा आशंका से धड़क रहा था। प्रायः पाँच मिनट बाद रामसरन जी वापस चले आए। आते ही बोले—"माफ़ कीजिएगा, देर हो गई, आपको अकेले ही बैठे रहना पड़ा !"

"जी नहीं, जी नहीं—" इसके आगे श्याममनोहर कुछ नहीं कह सका।

"आप यहाँ क्या करते हैं ?"

"मैं एक इन्श्योरेन्स कम्पनी का एजेन्ट हूँ।"

"काम तो आप का अच्छा ही चलता होगा ?"

"जी हाँ, काफ़ी अच्छा चलता है।"

इसके बाद दोनों कुछ समय तक मौन बैठे रहे। श्याममनोहर ऐसा भाव जताने लगा जैसे वह चित्रों के निरीक्षण में तन्मय हो। इसके बाद वह एकाएक बोल उठा "अच्छा, अब मुझे आज्ञा दीजिए।" कह कर उठने लगा।

रामसरन जी ने कहा—"वाह ! यह कैसे हो सकता है ! पहली बार आप मेरे मकान पर तशरीफ लाए हैं, बिना जल-पान किए कैसे जा सकते हैं !"

श्याममनोहर नम्रतापूर्वक जल-पान के प्रति अपना विराग प्रदर्शित

करना ही चाहता था कि भीतर की ओर के दरवाज़े का पर्दा हटा और प्रायः एक पचीस वर्ष की अनुपम सुन्दरी युवती ने भीतर प्रवेश किया। युवती एक चिट्टी सी साड़ी पहने थी जिसकी कन्नी पर कारवाँ का चित्र बना हुआ था एक लाल रंग का ब्लाउज उसके शरीर की शोभा बढ़ा रहा था। उसके मुख के भाव से एक सरस स्निग्ध शोभा और साष्ठव व्यक्त हो रहा था; उसकी आँखों की चुम्बक-माया की अपूर्वता का विश्लेषण करना कठिन था। वह एक रहस्य-भरी मुसकान से मन्द-मन्द मुस्कराती हुई आई। श्याममनोहर मुहूर्त के दर्शन से समझ गया कि वह जादूगरनी वही है जिसका फ़ोटो उसे उसकी स्त्री ने दिखाया था। वह ऐसा हौलदिल हो गया था कि उस सुन्दरी के स्वागत के लिये खड़ा होने की चेष्टा करने लगा, पर घबराहट के कारण आधा खड़ा होकर रह गया। सुन्दरी सहज-स्वाभाविक गति से पास ही एक कुर्सी पर आकर बैठ गई। रामसरन जी ने उसका परिचय देते हुए श्याममनोहर से कहा—"यह मेरी बहन रामकली है।" इसके बाद उन्होंने रामकली को भी श्याममनोहर का परिचय दिया। श्याममनोहर ने बुद्धू की तरह रामकली की ओर घबराहट की दृष्टि से देखते हुए हाथ जोड़े। रामकली ने बड़े सुघड़पन के साथ उसका प्रत्यभिवादन किया।

रामसरन जी ने अपनी बहन से पूछा—"चाय में कितनी देर है?" उत्तर मिला—"आती ही होगी। पर क्या सकसेना जी हम लोगों के यहाँ चाय पी सकेंगे?" किसी प्रकार का संकोच या झिझक इस प्रश्न में नहीं था, जैसे कोई नव-परिचिता महिला नहीं कोई सभा-चतुर ढीठ पुरुष वहाँ प्रश्न कर रहा हो।

इस प्रश्न से श्याममनोहर की झिझक कुछ दूर हो गई। उसने सकरुण मुसकान की तरल आभा अपनी आँखों में झलकाते हुए यथाशक्ति शांत भाव से कहा—"क्षमा कीजिएगा, आपका प्रश्न मुझे कुछ रहस्यमय-सा लगता है।"

रामकली ने कुछ गम्भीरता के साथ उत्तर दिया—"मैं आपको

यह जतला देना अपना कर्तव्य समझती हूँ कि हम लोग हरिजन हैं ।"

रामसरन जी ने आँखों के संकेत से अपनी बहन को सम्भवतः यह जताया कि उसने अपनी जातीयता के सम्बन्ध में यथार्थ सूचना देकर अवसर-विरुद्ध कार्य किया है। पर रामकली इस संकेत से तनिक भी विचलित नहीं हुई । वह अपनी सहज स्वाभाविक ढिठाई से श्याममनोहर ने अपनी घबराहट को यथा-शक्ति दबाने की चेष्टा करते हुए कहा—"यदि यही कारण है, तब तो मैं अवश्य ही आपके यहाँ चाय पीऊँगा ।' यह कहते हुए उसका मुँह अकारण ही लज्जा और संकोच से लाल हो आया । उसने सिर आधा नीचे की ओर कर लिया और कनखियों से रामकली की ओर देखने लगा । रामकली मंदमधुर मुस्कराने लगी । सम्भवतः वह यह बात ताड़ गई थी कि श्याममनोहर सुधारवादी होने के कारण नहीं, बल्कि उसके सौंदर्य की छटा और हाव-भाव चेष्टा से मन्त्र-भ्रान्त होकर उसके हाथ की चाय पीने को तैयार हुआ है ।

थोड़ी देर में एक नौकर चाय का पूरा सरंजाम और उसके साथ ही मिठाई, नमकीन, बिस्कुट आदि जलपान की सामग्री लेकर आया, और एक गोल मेज के ऊपर उसने सब सामान रख दिया । तीनों उस मेज के इर्द-गिर्द बैठ गए । रामकली बड़े सुघड़पन के साथ प्रत्येक के कप में चाय डालने लगी । श्याममनोहर के लिये किसी शिक्षिता और फैशनेबुल महिला के साथ एक ही टेबिल में बैठकर चाय पीने का यह प्रथम अवसर था । वह मौनमुग्ध होकर चाय ढालते समय रामकली के अङ्ग-प्रत्यंग की एक-एक हरकत पर बड़ी बारीकी से ग़ौर कर रहा था । रामकली भी चाय ढालती हुई बीच-बीच में अपने जादू-भरे कटाक्ष से उस पर सम्मोहन के साथ मारण-बाण भी निक्षेप करती जाती थी ।

चाय का चक्कर समाप्त होने में पूरा एक घण्टा बीत गया । इस बीच रामकली ने अपनी बातों से और व्यवहार से श्याममनोहर को पूर्णतः अपने वश में करके उसके मन की यह दशा कर डाली थी कि वह उसके चरणों की धूल सर पर डालने को तैयार था । साथ ही उसे ऐसा अनु-

भव होने लगा जैसे इस परिवार से उसका परिचय केवल घंटे भर का नहीं था; जैसे पूरा एक युग उसे इन दो भाई-बहनों के संसर्ग में रहते बीत चुका है। रामसरन जी का प्रेमपूर्ण अतिथि-सत्कार देखकर भी वह कम प्रसन्न नहीं हो रहा था।

चाय-पान समाप्त होने के बाद रामकली ने अकस्मात यह प्रस्ताव किया कि तीनों साथ ही फिल्म देखने चलें। इतनी शीघ्र गति से इस मायाविनी नारी को घनिष्ठता बढ़ाते देखकर श्याममनोहर को जितना आश्चर्य हो रहा था उतना ही उसके मन में यह विश्वास भी दृढ़ होता चला जाता था कि उसकी किसी भी बात में अस्वाभाविकता की बू तक वर्तमान नहीं थी। वास्तव में इस सतेज नारी के स्वभाव की ढिठाई में एक ऐसी विशेषता थी, जो उसे सुहाती थी और उसके रूप के जादू का असर चौगुना बढ़ाती थी।

श्याममनोहर को सिनेमा से प्रेम नहीं था। पर उस दिन वह रामसरन जी और उनकी बहन के साथ सिनेमा देखने गया, और अपनी गाँठ के पैसों से उसने 'मँझधार' नामक फ़िल्म के लिये सब के लिये टिकट खरीदे। रामकली कोई दृश्य देखकर कभी हँसती, कभी टीका-टिप्पणी करने लगती, कभी स्तब्ध और मौन रहती। रामकली फ़िल्म देख रही थी, पर श्याममनोहर रामकली के रङ्ग-ढङ्ग देख रहा था।

सिनेमा देखकर श्याममनोहर घर लौटा, और अपनी स्त्री से अधिक बातें न कर केवल एक पराठा खाकर पलङ्ग पर चुपचाप लेट गया, और आज के दिन की छोटी से छोटी बात का स्मरण करके उसे तरह-तरह की काव्य-कल्पना से रङ्गकर रस लेने की चेष्टा करने लगा।

तब से रामकली के यहाँ उसका आना-जाना नियमित रूप से चलने लगा। उसे यह बात प्रथम परिचय के दो-तीन दिन बाद मालूम हुई कि रामकली लड़कियों के नार्मल स्कूल में अध्यापिका है।

उस दिन इतवार था। श्याममनोहर सुबह से ही यह इरादा किए बैठा था कि आज दिन भर रामसरनजी के यहाँ अड्डा जमावेगा। प्रायः

साढ़े ग्यारह बजे उसने खाना खाया, और खाना खाते ही चलने की तैयारी करने लगा। उमा की आज बहुत इच्छा हो रही थी कि मनोहर आज दोपहर को घर ही पर रहे। प्रायः आठ मास के विछोह के बाद श्याममनोहर से वह मिल पाई थी। पर मिलने के पहले ही दिन वह निगोड़ा फ़ोटो उसके हाथ लग गया! उसके मन में इस बात का पूरा विश्वास जम गया था कि उस फोटो को लेकर उसने मनोहर के साथ जो व्यंग किया था, उसी से नाराज होकर मनोहर तब से उसके साथ एक बात भी जी खोल कर नहीं करता। वास्तव में उसके प्रति मनोहर का हृदय कुछ ऐसा बदल गया था कि उसके किसी भी प्रश्न का उत्तर वह पूरी तरह से नहीं देता था, और भरसक अपने उत्तर को केवल 'हाँ' या 'ना' तक सीमित रखने की चेष्टा करता था। उस को अब इस बात के लिये भी बड़ा पश्चाताप होने लगा था कि प्रारम्भ में कुछ दिनों तक वह फ़ोटो को लेकर व्यंग किया करती थी और हृदय के भाव जताती थी तो मनोहर प्रेमपूर्ण परिहास से उसे मनाने की कोशिश किया करता था, पर वह अपने मान पर अड़ी रहती थी। निश्चय ही उसी मान की प्रतिक्रिया का ही यह फल है कि अब मनोहर उससे मान किए बैठा है, और उसके साथ निपट उदासीनता के साथ पेश आता है। आज वह इस बात के लिये क्षमा माँगने का विचार कर रही थी और श्याममनोहर को हर हालत में मनाने के लिये तैयार बैठी थी। पर श्याममनोहर की उदासीनता आज और दिनों की अपेक्षा और अधिक स्पष्ट हो उठी थी। उसका मन किसी कारण से इस कदर उखड़ा हुआ मालूम होता था कि उसको उससे कुछ बातें करने का साहस नहीं हो रहा था। पर आज वह जो निश्चय कर चुकी थी उससे हटना भी नहीं चाहती थी। उसने मनोहर के एक दम निकट आकर अचानक उसका हाथ मजबूती से पकड़ लिया और आँखों में एक निराली, मस्तानी अदा झलकाती हुई संकेत भरी मुस्कान के साथ बोली—"बैठो, आज तुम कहीं नहीं जा सकते। आज न जाने दूँगी, बालम!" उसने यह प्रेम परिहास किया तो सही, पर भीतर

ही भीतर वह भयङ्कर रूप से सहमी और घबराई हुई थी कि उसके पति के वर्तमान मनोभाव को देखते हुए इस प्रकार के रस-रङ्ग की बातें कहीं उलटा असर पैदा न करें।

आज बाहर निकलने के लिये श्याममनोहर के पङ्ख फड़फड़ा रहे थे। उमा ने जब अपने प्यार और दुलार से उसे बरबस घर के कैदखाने में बन्द करने की प्रतिज्ञा-सी कर ली, तो वह मुक्ति के लिए भीतर-ही-भीतर बुरी तरह छटपटाने लगा। पर बाहर के उमा की उस आंतरिक सहृदपूर्ण रसाकांक्षा और प्रेम-प्रार्थना का तिरस्कार का साहस उसे नहीं होता था। वह मरे मन से कुछ देर तक अपने कमरे में ही में बैठा रहा और जी मसोस-मसोस कर, बड़े ही रूखे भाव से अपनी पत्नी का प्रेम-पीड़न सहता रहा। बाद में जब उमा ने उसकी रुखाई की शिकायत बड़े ही स्नेह करुण शब्दों में करनी शुरू की और अपने भीतर की बहुत दिनों की दबी हुई वेदना का भावपूर्ण उद्गार प्रकट करते-करते अपनी आँखों को खारे जल से भिगोना आरम्भ कर दिया, तो यह सब 'लीला' श्याममनोहर के लिये असह्य हो उठी। वह कुछ देर तक अस्पष्ट शब्दों में न जाने क्या बड़बड़ाता रहा, और उसके बाद उमा का हाथ छुड़ाकर अचानक उठ खड़ा हुआ।

घर से बाहर निकलकर जब वह बड़ी सड़क के चौराहे पर पहुँचा तो उसने चैन की एक साँस ली। वह रामसरनजी के मकान की ओर अनिश्चित पगों से धीरे-धीरे चलने लगा। जब मकान के दरवाजे के पास पहुँचा तो एक बार उसकी इच्छा हुई कि उलटे पाँव लौट चले। पर फिर न जाने क्या सोच कर उसने दरवाजा खटखटाना शुरू कर दिया।

"कौन?"—बड़े ही तीखे किंतु मर्मस्पर्शी स्वर में किसी ने भीतर से पूछा।

"मैं हूँ श्याममनोहर। रामसरन जी हैं क्या?"

"जी नहीं, वह यहाँ नहीं हैं।"

स्पष्ट ही यह कण्ठस्वर उसी मायाविनी का था, जिसने अपने फ़ोटो

तक में एक अवर्णनीय जादू की सजीवता बिखेर दी थी। पर उसका आज का व्यवहार श्याममनोहर को बड़ा विचित्र-सा लगा। उसका नाम मालूम करके भी उसने दरवाजा नहीं खोला और भीतर से ही उत्तर देकर टरका देना चाहा। इसका कारण श्याममनोहर की समझ में न आया। बहुत सोचने पर केवल एक सम्भावना उसकी समझ में आ रही थी। वह यह कि रामशरन जी की अनुपस्थिति में रामकली उसे भीतर बुलाना निरापद नहीं समझती, उसने मन ही मन कहा, "वह मुझे भद्रवेशीगुण्डा समझती है, आखिर नीच जाति की स्त्री ही तो है। हरिजन समाज की चरित्रहीनता के बीच में जिसका पालन-पोषण हुआ है, वह किसी की सच्चरित्रता पर विश्वास ही कैसे कर सकती है?" इसी तरह की बातें सोचता हुआ वह कुछ देर तक अव्यवस्थित और अनिश्चित मानसिक अवस्था में दरवाजे के पास ही खड़ा रहा। उसके मन में इस बात की एक अस्पष्ट और क्षीण आशा अभी तक बनी हुई थी कि रामकली दरवाजा खोलेगी।

अकस्मात उसके कानों में दो व्यक्तियों के सम्मिलित अट्टहास की स्वर-लहरी गूँज उठी। वह शब्द रामसरन जी के मकान के दुमंजिले से आ रहा था। इसमें संदेह के लिये तनिक भी गुंजाइश न थी कि उन दो व्यक्तियों में से एक स्वयं रामकली है। पर दूसरा व्यक्ति, जो कि निश्चय ही पुरुष था, कौन है, इस बात का अन्दाजा लगाना श्याममनोहर के लिये असम्भव था। पहले, केवल क्षण भर के लिये, यह भ्रम उसे अवश्य हुआ था कि दूसरा व्यक्ति स्वयं रामसरन जी हैं, और रामकली ने जान बूझ कर उसे यह गलत सूचना दी है कि रामसरन जी घर में नहीं हैं। पर उसका यह भ्रम दूसरे ही क्षण मिट गया था। अट्टहास के साथ ही साथ दोनों आपस में कुछ बातें भी कर रहे थे। श्याममनोहर बड़े जोर से, कान खड़े करके सुनने लगा। वह केवल इतना ही अनुमान लगा पाया कि रामकली जिस व्यक्ति से बातें कर रही है वह चाहे कोई हो पर रामसरन जी नहीं हैं, और यह विश्वास भी उसके मन में जम

गया कि उसी की—श्याममनोहर की चर्चा चलाते हुए वे दोनों अट्टहास कर रहे हैं। पर उसके सम्बन्ध में क्या बातें हो रही हैं, इसका ठीक ठीक अन्दाज वह नहीं लगा पा रहा था, क्योंकि केवल कुछ अस्पष्ट अथवा फुटकर शब्दों की भनक उसमें कानों में पड़ रही थी। उन फुटकर शब्दों का तारतम्म अपनी चोट खाये हुए मन की भ्रामक कल्पना से विचित्र रूपों में जोड़ता हुआ वह अपने मस्तिष्क के चारों ओर एक अनोखे जगडवाल की रचना करने लगा। उसे ऐसा लगा कि इतना बड़ा अपमान उसका बड़ा से बड़ा शत्रु भी कभी करने का साहस नहीं कर सकता था। उसकी इच्छा हुई कि दरवाज़ा तोड़ कर भीतर घुसे और ऊपर जाकर दोनों अट्टहास-रत व्यक्तियों को गला दबोच कर समाप्त कर डाले। वह अपने दाँतों को पीस कर रह गया। अट्टहास का क्रम अभी तक जारी था। श्याममनोहर के कानों में वह शब्द आग में जलाए हुए ज्वलंत सीसे की तरह पहुँच रहा था। दरवाजे पर खड़े रह कर उस शब्द को सुनना शूली पर चढ़ाये जाने की क्रिया से भी अधिक कष्ट-प्रद मालूम हो रही थी। पर वहाँ से हटने के लिये भी उसके पाँव जैसे उठ नहीं रहे थे।

उस मुहल्ले में वह अपरिचित था, और उस गली में आने जाने वाले व्यक्ति एक अजनबी को रामसरन जी के दरवाजे के बाहर खड़ा देख कर बड़े गौर से उसकी ओर देखते थे। अन्त में लोक-लज्जा वलीयसीं सिद्ध हुई, और श्याममनोहर अनिच्छा से वहाँ से चलने लगा। वह सोचने लगा कि रामकली ने आज जो उसका अपमान किया उसका क्या कारण हो सकता है? उसके मन में धीरे-धीरे यह विश्वास जमने लगा कि प्रारम्भ में कुछ दिनों तक रामकली ने उसकी जो आव-भगत की, आदर-सत्कार किया, वह केवल मीठी मीठी बातों से उसे बहका कर उसे चाय पिला कर, खाना खिला कर उसे 'धर्म-भ्रष्ट' करने के इरादे से किया। शिक्षित हरिजन समाज में पैदा होने के कारण उसके मन में उच्च वर्णों के व्यक्तियों के विरुद्ध बदला लेने की भावना निश्चय

ही उग्र रूप में वर्तमान है। इसीलिए उसने उलटे सीधे उपायों से उसे अपने वश में करके उसका 'धर्म' नष्ट करके उसे दुत्कार दिया। "अच्छा जिस व्यक्ति के साथ वह इस समय बातें कर रही थी, जिसके साथ वह मेरे ख़िलाफ़ अट्टहास में सहयोग दे रही है, वह कौन हो सकता है? वह भी निश्चय ही मेरी ही तरह कोई उच्च वर्ण का व्यक्ति है। उसे भी मेरी ही तरह फुसला कर वह चाय पिलावेगी, खाना खिलायेगी? और उसके मन से 'छूआछूत' का भूत भगाकर मेरी ही तरह उसकी जातीयता नष्ट करके अन्त में उसे धता बता देगी। पर यह भी तो सम्भव है कि उस व्यक्ति से उसका नया प्रेम-संबंध स्थापित हुआ हो। पहले ही दिन उसके रंग-ढंग देखकर मुझे मालूम हो गया था कि वह एक निर्लज्ज और चरित्रहीन स्त्री है। निश्चय ही यही बात है कि उसने एक नए प्रेमिक को फाँस लिया है। आज चूँकि रामसरन जी घर पर नहीं हैं इसलिए उन दोनों को मुक्त होकर रस-रंग की बातें करने की पूरी सुविधा मिल गई है। मैं उन दोनों के बीच में निश्चय ही मूर्तिमान विघ्न की तरह लगता, इस लिए रामकली ने मेरे जाने पर दरवाज़ा तक नहीं खोला। निश्चय ही वह बहुत से प्रेमिकों से सम्बन्ध स्थापित कर चुकी है। मुझे भी वह फाँसना चाहती थी, पर अब इस कारण वह मुझसे कतराने लगी है कि मैं चरित्रहीन नहीं हूं और उसके फंदे में जल्दी नहीं आ सकता।" उसके अन्तर्मन ने उससे पूछा—"क्या तुम सच कहते हो? क्या तुम सचमुच सच्चरित्र हो? क्या रामकली के रूप और यौवन की ओर तुम बेसुध होकर नहीं खिंचे हो?" पर इस प्रश्न के उत्तर में वह भीतर ही भीतर केवल "चुप! चुप!" कहकर रह गया।

उसके भीतर कुछ दूसरी ही प्रवृत्तियाँ, दूसरी ही प्रेरणाएँ काम कर रही थीं। उसके भीतर जो सचमुच का गुण्डा छिपा हुआ था, वह बाहर प्रकाश में आने के लिए छटपटा रहा था। ईर्षा का उच्छृङ्खल उन्माद उसके मन और मस्तिष्क को बुरी तरह ऐंठने लगा था। उसके मन में यह कल्पना रह रह कर तीव्र से तीव्रतर रूप धारण करती जाती थी कि

रामकली अपने प्रेमिक के साथ यह चर्चा करती हुई अत्यन्त सुखी हो रही होगी कि उन दोनों ने उसे—श्याममनोहर को—अच्छा बेवकूफ़ बनाया है। दोनों प्रेम की मुक्त तरंगों में मनमाने ढंग से विचर रहे होंगे, जब कि वह स्वयं आवारा कुत्ते की तरह दरवाजे से दुरदुराया हुआ बाहर भटक रहा है। रह रह कर उसके कलेजे में साँप लोट रहे थे।

सहसा उसकी सारी भद्रता और सच्चरित्रता का मुखड़ा उतर गया और उसके भीतर का गुण्डा पूरे प्रवेश से भीतर की दीवारों को तोड़ फोड़ कर बाहर निकाल आया। वह बिना कुछ सोचे समझे फिर से रामकली के मकान की ओर लौट पड़ा। जब दरवाज़े के पास पहुँचा तो ऊपर से उन्हीं दो व्यक्तियों के बोलने का शब्द स्पष्ट सुनाई दिया। रामकली एक बार किसी बात पर खिलखिलाई और दूसरा व्यक्ति—निश्चय ही उसका प्रेमी—जवाब में ठट्ठा मार कर हँसा। असह्य पीड़न से पागल सा होकर श्याममनोहर ने भड़भड़ शब्द से दरवाज़े पर धक्का दिया।

"कौन है?" घबराई हुई आवाज़ में ऊपर से रामकली ने पूछा, पर श्याममनोहर ने इस बार कोई उत्तर न दिया। वह केवल ज़ोर से दरवाज़े को भड़भड़ाता रहा।

रामकली ने एक बार फिर पूछा—"कौन है?" जब इस बार भी कोई उत्तर न मिला, और दरवाज़े को भड़भड़ाया जाना जारी रहा, तो वह नीचे उतर आई, और उसने भीतर से चिटखनी खोल दी। श्याममनोहर को देख कर उसने मुख की मुद्रा गंभीर हो आई। उसने कहा—"ओह, आप हैं!"

श्याममनोहर का मुँह लज्जा और संकोच से लाल हो आया था, जैसे उसने कोई बड़ी भारी चोरी की हो। उसने कहा—

"माफ़ कीजिएगा, मैं यह जानना चाहता था कि रामसरन जी आ गए हैं या नहीं?"

"अभी नहीं आए हैं। वह तीन दिन के लिए शहर से बाहर गए हुए हैं। परसों शायद आवें।" बड़े रूखे ढङ्ग से रामकली ने उत्तर

दिया।

"ओह, यह बात है। अच्छा—हाँ, एक बात मैं आप से कहना चाहता था।"

"कहिए!"

"पर यहाँ नहीं, भीतर चलिए·······"

"यहीं क्यों नहीं कह लेते? कोई ख़ास बात है क्या?"

श्याममनोहर जानता था कि वह किसी हालत में भीतर ले जाना पसन्द नहीं करेगी। पर उसने भी एक निराला हठ ठान लिया था। एक दुराग्रही की तरह उसने कहा—"जी हाँ, ख़ास ही बात है।"

"तो कल सुबह किसी समय आइएगा। आज संभव नहीं है।"

श्याममनोहर ने इस बात पर ग़ौर किया कि रामकली ने 'सुबह' शब्द पर विशेष ज़ोर दिया। जिसका अर्थ उसने यह लगाया कि वह कल भी सुबह के अलावा और किसी समय उससे इसलिए नहीं मिलना चाहती कि अपने नये प्रेमिका से कल ही उसका 'एप्वायंटमेंट' है। उसके भीतर ही भीतर बड़े भयङ्कर रूप से ईर्षा की आग दहकने लगी। संकोच और लज्जा का शेष चिह्न भी अपने मन के अतल में डुबाकर वह बोला—

"आज क्यों सम्भव नहीं है, क्या मैं जान सकता हूँ?"

"आज मेरे एक विशेष मित्र आए हुए हैं।" रामकली ने बेझिझक कहा।

"ओह, तब तो उनसे मिल कर मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।"

"पर, पर—"

इतने में एक सुदर्सन युवक ऊपर की सीढ़ियों से उतर कर नीचे आ खड़ा हुआ। उसे देखकर क्षण भर के लिये वह विस्मित-सा रह गया। पर रामकली तत्काल ही बड़े जोरों से खिलखिला उठी। उसके बाद उसने श्याममनोहर को सम्बोधित करके सुदर्शन युवक की ओर संकेत करते हुए कहा—"यही हैं मेरे वे मित्र जिनसे मिल कर आप को बड़ी प्रसन्नता

होने की सम्भावना है।"

"ओह, आपको तारीफ़ ?" कटे हुए मन से श्याममनोहर ने पूछा।

"आपका नाम श्रीयुत ब्रजमोहनदास है। आपने अभी बनारस यूनिवर्सिटी से एम० ए० पास किया है। यहाँ आप के पिता की फर्निचर की एक बहुत बड़ी दुकान है।"

"आप क्या कायस्थ हैं ?" सुदर्शन युवक की ओर देखते हुए श्याममनोहर ने पूछा।

"जी नहीं, मैं हरिजन हूँ! मेरे पुरखे मुद्दत से बढ़ई का काम करते रहे हैं।"

"हरिजन! बढ़ई! तो आप भी हरिजन हैं! अच्छा!"

सुदर्शन युवक ने मन्द-मन्द मुस्कराते हुए पूछा—"क्यों, आपको आश्चर्य क्यों हो रहा है ? आप तो जैसे चौंक उठे!"

"नहीं, नहीं, मैं चौंका नहीं। बड़ी प्रसन्नता हुई आप से मिल कर। आप दोनों अपने हरिजनत्व के सम्बन्ध में बड़े स्पष्टवादी हैं, यही जानकर मैं कुछ······पर वह कुछ नहीं······।"

"आप क्या अपनी जात-पाँत के सम्बन्ध में किसी का अस्पष्टवादी होना पसन्द करते हैं ?"

"नहीं, नहीं; भला मैं ऐसा क्यों पसन्द करूँगा। मेरा मतलब कुछ दूसरा ही था। मैं जानना चाहता था कि आपका परिचय इनसे (रामकली की ओर इशारा करते हुए) कैसे हुआ ?"

"यह एक लम्बा किस्सा है, उसे जानकर क्या कीजिएगा। आप यह बताइए कि आप यहाँ कैसे पधारे ?"

"मैं रामसरनजी से एक विशेष काम से मिलना चाहता था।"

रामकली विचित्र मुसकान के साथ बोल उठी—"वाह, अभी तो आप कह रहे थे कि आप मुझसे कुछ जरूरी बातें करना चाहते हैं।"

श्याममनोहर हतप्रभ होकर क्षण भर के लिए रामकली की ओर

देखता रहा। उसके बाद कुछ लड़खड़ाती हुई सी ज़बान में बोला—
"हाँ हाँ, आप से भी मुझे कुछ काम था।"

"क्या काम था, बताते क्यों नहीं।"

"पर—पर वह यहाँ बताने की बात नहीं है।"

"नहीं, आप को बताना ही होगा और यहीं पर, मेरे मित्र-इन महाशय के सामने। इनसे छिपाकर मैं आपकी कोई भी बात कभी नहीं सुनना चाहूँगी।"

"पर, पर......"

"नहीं, अब आपको बताना ही होगा। इसमें 'पर-वर' की कोई बात नहीं है। कहिए, क्या काम था आप को मुझसे? ज़रा भीतर चले आइए, अगर एकदम दरवाजे पर कहने में आपको कुछ सङ्कोच होता हो तो!"

रामकली की भौहों में एक निराली ढिठाई और आँखों में एक तीखे व्यंग का कटीला आभास वर्तमान था। श्याममनोहर की सिट्टी-पिट्टी भूल गई थी। उसने भ्रांतभाव से एक बार सुदर्शन युवक की ओर देखा और फिर रामकली की ओर देखकर प्रायः हकलाता हुआ बोला—"असल में मैं आप से इन्श्योरेन्स के सम्बन्ध में कुछ पूछना चाहता था। मैं—मैं अपना बीमा कराना चाहता हूँ।" रामकली मुक्तभाव से खिलखिला पड़ी।

सुदर्शन युवक ने कहा—"इनसे और बीमा से क्या सम्बन्ध?"

'असल में मैं रामसरन जी से मिलना चाहता था, पर वह यहाँ नहीं हैं, इसलिए—"

"समझा!" यह कहते हुए सुदर्शन युवक के मुँह पर की मुसकान घनघोर गम्भीरता में परिणत होगई। उसने प्रायः गरजती हुई वाणी से कहा—"आप जानबूझकर बन रहे हैं। आपकी बातों से जाहिर है कि आप किसी अच्छे उद्देश्य से यहाँ नहीं आए हैं। आप शायद आज ही एक बार पहले भी आ चुके हैं—आप ही तो थे जिन्हें प्रायः आधा घंटा

पहले यह सूचित किया गया था कि रामसरन जी यहाँ नहीं हैं ?" अंतिम प्रश्न सुदर्शन युवक ने रामकली से किया।

रामकली बोली—"हाँ आप ही थे।"

सुदर्शन युवक ने श्याममनोहर को लक्ष्य करके कहा—"यह जानते हुए भी कि रामसरन जी यहाँ नहीं हैं, आप फिर चले आए और दरवाज़ा भड़भड़ाने लगे। जब आपसे पूछा गया कि कौन है, आपने कोई उत्तर नहीं दिया। इन सब बातों का आशय क्या है ? अगर कोई दूसरा होता तो उसका गला पकड़कर एक धक्के में मैं बाहर ढकेल देता। पर चूँकि आप रामसरन जी के परिचित हैं, इसलिए आपको केवल भविष्य के लिये चेतावनी देकर इस समय मैं यों ही छोड़े देता हूँ, ख़बरदार, आगे फिर-कभी आपने इस प्रकार-गुण्डों की-सी हरकत की तो अच्छा न होगा। जाइए, अपना रास्ता नापिए।"

श्याममनोहर को ऐसा लगा जैसे उसकी पीठ पर 'चोर' लिखकर उसके मुँह पर कालिख पोत कर, उसे गधे की पीठ पर चढ़ाकर तमाम शहर में उसे घुमाने की तैयारी हो रही है। रोनी सी सूरत बनाकर वह बाहर चला गया, बाहर निकलते ही फिर एक बार रामकली और उसके 'मित्र' के सम्मिलित अट्टहास का शब्द मर्मान्तक वेदना से उसके कानों में गूँजने लगा।

उस घटना के बाद श्याममनोहर फिर कभी रामकली के यहाँ नहीं गया, पर उसका जो अपमान रामकली ने अपने 'मित्र' के द्वारा कराया था उसकी पीड़ा रह रह कर उसके कलेजे को बराबर छेदती रही। उसके मन में यह विश्वास दृढ़तर हो गया था कि रामकली का वह मित्र नंबरी लफंगा है, और रामकली से उसका दुर्नीति मूलक सम्बन्ध है। यह होते हुए भी उसने श्याममनोहर को इस ढङ्ग से डाँटा था जैसे वह रामकली का गार्जियन हो, और रामकली के सामने उसे गुण्डा साबित करके घर से बाहर निकाल दिया। उल्टा चोर कोतवाल को डाँट बताये, इस तरह की बातें सोचकर श्याममनोहर की आत्मा रामकली नाम की उस 'वेश्या'

को (वह मन ही मन उसे 'वेश्या' संबोधित करके काफ़ी आत्म-संतोष प्रान कर लेता था) और उसके लफंगे यार को बिना पानी पिये ही कस कस कर कोसा करता था।

इधर उसकी पत्नी उमा अपनी पूरी शक्ति से चेष्टा करने पर भी उसका मन अपनी ओर खींचने में अपने को असमर्थ मालूम कर रही थी। एक दिन उसने समस्त संकोच त्याग कर अपने पति के पाँव पकड़ लिए और कहा "मुझे क्षमा कर दो !"

श्याममनोहर ने खींचकर अपने पाँव हटा लिए और कहा—"क्षमा किस बात के लिये करूँ ? तुमने क्या कोई अपराध किया है ? क्यों इस तरह का पागलपन करती हो ?"

उमा ने कहा—"वह निगोड़ा फोटो मेरी जान का गाहक साबित हुआ। मैंने हँसी में तुमसे कहा था कि तुम उस फोटो वाली स्त्री से— पर वह सब मेरी मूर्खता थी। मैं जानती हूँ कि तुम कभी भूलकर भी किसी दूसरी स्त्री से प्रेम नहीं कर सकते। पर अपने लड़कपन के लिये मैं क्या करूँ ! एक बात मैंने योंही कह दी और तुम तब से उसे गांठ बाँधे हुए हो, और तब से बराबर मुझसे रिसाए रहते हो !"

ऐसा मार्मिक व्यंग श्याममनोहर के जीवन काल में किसी ने उससे नहीं किया, जैसा उमा ने अपने अनजान में, अत्यंत सरल और निष्कपट भाव से आज उसके साथ किया। उसकी आत्मा तिलमिला उठी, वह फोटो ! जब उमा ने पहले दिन उसका उल्लेख करके यह ताना (हँसी में या वास्तव में) कसा था कि उस फोटोवाली स्त्री से उसका प्रेम संबंध चल रहा है, तो वह आन्तरिक अविश्वास के साथ कैसे मुक्तभाव से हँसा था ! तब क्या स्वप्न में भी उसे इस बात का ख़याल था कि वह अपरिचित रमणी, जिसका फोटो इत्तफ़ाक से इस मकान में भूल से रह गया था, एक दिन वास्तव में उसके जीवन को ऐसे घनघोर रूप से (चाहे बुरे के लिये हो या भले के लिये) छा लेगी और अंत में अपने असंख्य प्रेमिकों में से किसी एक के द्वारा उसे बुरी तरह अपमानित करेगी ? और

आज उमा सच्चे दिल से, अपने अंतःकरण के विश्वास से कह रही है कि तुम किसी दूसरी स्त्री से प्रेम नहीं कर सकते !' यह कैसी भयङ्कर विडंबना है ! कोई यदि यह कहता कि तुम किसी दूसरी स्त्री का प्रेम नहीं पा सकते, तो यह कहीं अधिक सत्य होता ।

श्याममनोहर ने उमा की बात का कोई उत्तर नहीं दिया वह चुपचाप वहाँ से उठकर बाहर चला गया ।

कुछ दिन बाद उसे डाक द्वारा एक निमंत्रण पत्र मिला । उसमें नीचे रामसरन जी के दस्तख़त थे । उसमें लिखा था कि अमुक सौर तिथि अमुक चाँद तिथि, अमुक वार और अमुक तारीख़ को उनकी बहन श्री रामकली देवी का विवाह "शहर के सुप्रसिद्ध मिस्त्री" श्री बुलाकी दास के सुपुत्र श्री ब्रजमोहन दास एम० ए० के साथ होना निश्चित हुआ है । इसलिये "उसमें सम्मिलित होकर कृतार्थ करने की कृपा करें ।"

श्याममनोहर ने ब्रजमोहनदास का नाम तीन चार बार इस संदेह से पढ़ा कि कहीं वह पढ़ने में भूल तो नहीं कर रहा है ।

श्री ओंकार शरद

बहुत मीठा और शिष्ट व्यक्तित्व जो शायद ही कभी उत्तेजित होता हो, और यदि उत्तेजित हो भी तो उसके क्रोध में ज्यादा से ज्यादा उतनी ही गरमी होती है जितनी जाड़े की धूप में। सन् ४२ में हज़ारीबाग़ जेल गए और लौटे तो साहित्य और राजनीति दोनों का ज्वार लेकर। राजनीति में कहा जाता है कि आप समाजवादी हैं। व्यक्तित्व में तो समाजवाद के कोई शुभ-अशुभ लक्षण नहीं दीख पड़ते, विचारधारा और सत्संग में शायद आप (भूल से) समाजवादी हैं, ठीक जैसे लाल सुकुमार मख़मल पर कोई बच्चा भूल से, खड़िया से 'क्रान्ति' लिख दे।

साहित्य पर पत्रकारिता की बहुत बड़ी छाप। सामयिक समस्याओं पर लिखने की बहुत आदत; यह प्रलोभन कभी कभी कला की परिपक्वता के लिए घातक भी सिद्ध हुआ है। स्वयम् भी 'लहर' जैसी उत्कृष्ट मासिक पत्रिका के सम्पादकत्व का भार वहन कर चुके हैं। स्केचेज़ की दिशा में नए प्रयोग कर रहे हैं जो पसन्द किए जा रहे हैं। कई उपन्यास लिख चुके हैं।

कविता की मधुराई व्यक्तित्व में ही समा गई और लेखनी को अभिषिक्त न कर पाई। प्रयाग की साहित्यिक गोष्ठियों और सांस्कृतिक संस्थाओं के आप प्रमुख व्यक्तित्व हैं।

ताज की नींव

सांध्य सूर्य की पीली किरणें वृक्षों के शिखरों पर विलीन हो रही थीं। धीमी-धीमी बहती हुई बयार यमुना के वक्षस्थल में गुदगुदी उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रही थी। सम्राट् शाहजहाँ उद्यान के किनारे, गुलाब के कुंज के निकट खड़े, अधखिली कलियों का सौन्दर्य निहार रहे थे। रह-रह कर उनकी दृष्टि नीचे बहती हुई यमुना की लहरियों तक जाकर फिर लौट आती थी, जैसे सरिता की लोल लहरियाँ कूल से टकरा कर लौट आती हैं।

चार-पाँच कलियाँ एक साथ उलझी हुई विहंस रही थीं। सम्राट ने अपनी कोमल उँगलियों से उन्हें दुलराते हुए नगर की ओर दृष्टि फेरी। श्वेत पाषाण-खण्डों द्वारा निर्मित उस भवन पर जाकर उनकी दृष्टि टिक गई। क्षण भर वे उसे उसी प्रकार से देखते रहे। इस भवन के प्रति सम्राट् को बड़ा मोह है। जब कभी उनकी दृष्टि इस ओर आती है तो दस वर्ष पूर्व की एक घटना बरबस उनकी आँखों के सामने आकर फैल जाती है। उस समय वह सम्राट् नहीं बल्कि शाहजादा खुर्रम थे। पिता की आज्ञा से उन्हें दक्षिण जाना पड़ा। मराठों का

वह प्रान्त किसी भी मुगल के लिए खतरे से पूर्ण हो सकता था। उस दिन उनकी सेना ने अमृतकूट से थोड़ी दूर पर पड़ाव डाला। दक्षिण के उस प्रदेश की सन्ध्या बड़ी मनोहर मालूम होती थी। वह टहलते-टहलते अपनी सेना से थोड़ी दूर आगे निकल गये। तभी सहसा पीछे उन्हें कुछ आहट जान पड़ी। मुड़कर उन्होंने पीछे देखा। एक व्यक्ति दौड़ा हुआ उनकी ओर आ रहा था। खुर्रम की समझ में कुछ न आया। वह व्यक्ति उनसे थोड़ी दूर पर आकर क्षण भर को रुका, फिर एक पेड़ की ओर झपट पड़ा। खुर्रम ने उस ओर देखा—एक मराठा सैनिक जो उनकी ओर खड़ा देख रहा था, सहसा आगन्तुक उस पर टूट पड़ा। शाहजहाँ ने क्षण भर देखा, समझा फिर वह उन दोनों की ओर बढ़ा। मराठा सैनिक ने खुर्रम को आते देखा तो एक ओर भाग गया।

उस व्यक्ति ने पास ही पड़ी अपनी तूलिका उठाई और खुर्रम की ओर दृष्टि किए बिना ही एक ओर चल पड़ा। खुर्रम को कौतूहल हुआ। वह उसके पीछे-पीछे हो लिए। थोड़ी दूर जाकर वह व्यक्ति एक शिलाखण्ड पर बैठ गया। पास ही चित्रकला का सामान बिखरा पड़ा था। उसने अपनी तूलिका रङ्ग में डुबोई और फिर उसकी उँगलियाँ चलने लगीं।.........और उस क्षण के परिचय ने मित्रता का रूप धारण कर लिया। जमशेद शिल्पी तथा चित्रकार था। वहाँ बैठा अपनी कल्पना को चित्रित कर रहा था कि तभी उसने देखा कि वह मराठा सैनिक एक मुगल पर आक्रमण करने जा रहा है। हाथ में केवल तूलिका ही लिए हुए, जैसे वही उसका प्रमुख शस्त्र हो, वह उससे भिड़ने चल पड़ा। और फिर अपनी प्राणरक्षा के लिए शाहजादे खुर्रम को उस कलाकार का कृतज्ञ होना पड़ा। उस घटना के पश्चात् जमशेद, शाहजादा खुर्रम के साथ ही रहने लगा। खुर्रम के कला-प्रेम ने शिल्पी को प्रेरणा प्रदान की। जब खुर्रम ने भारत का सम्राट् बन कर शाहंशाह शाहजहाँ की पदवी धारण की तब जमशेद के लिए आगरे में अपने

महल के निकट ही एक भवन बनवा दिया। जमशेद उसमें अपना एकाकी जीवन व्यतीत करता था। उसकी दुनिया चित्रों और मूर्तियों के बीच व्यतीत होती।

आज कई दिनों से जमशेद दरबार में नहीं आया था। सम्राट् शाहजहाँ को उसकी अनुपस्थिति पर आश्चर्य नहीं हुआ। बहुधा जब कभी जमशेद किसी कला-कृति का निर्माण प्रारम्भ करता तो वह उसमें इतना लीन हो जाता था कि फिर वह घर से बाहर भी नहीं निकलता। पर आज सम्राट् को जाने क्यों जमशेद को देखने की इच्छा प्रबल हो उठी। उदास भाव से वह उस प्रस्तर भवन की ओर देखने लगा। तभी किसी ने पीछे से पुकारा, "सम्राट्।"

शाहजहाँ ने मुड़ कर पीछे की ओर देखा—"कौन जमशेद!" उनका मुख-मण्डल प्रसन्नता से चमक उठा। उन्होंने पूछा—"तुम कहाँ थे जमशेद? अभी मैं तुम्हारे ही बारे में सोच रहा था।"

"अपनी दुनिया में सम्राट्!" जमशेद ने उत्तर दिया।

"अपती दुनिया में? क्या कर रहे थे?"

"सम्राट्! मैंने एक मूर्ति बनाई है। उसे अभी पूरा कर पाया हूँ और पूरा करते ही आपके पास दौड़ा आया हूँ।"

"हम भी देखेंगे तुम्हारी वह कलात्मक मूर्त्ति, जमशेद।"

"मैं अभी लाता हूँ, सम्राट्!"

सम्राट् क्षण भर चुप रहे। उस्ताद जमशेद जब जाने लगा तो सम्राट् ने कहा—"नहीं, हम वहीं चल कर देखेंगे।"

उस्ताद के साथ-साथ सम्राट् महल के बाहर आये। पहरेदारों ने आश्चर्य से देखा, पर चुप रहे। जमशेद ने घर पहुँच कर वह मूर्ति सम्राट् को दिखाई तो सम्राट् ने उसकी प्रशंसा करते हुए कहा—"जमशेद, तुमने यह बहुत ही सुन्दर बनाई है, तुम सच्चे कलाकार हो। इतनी सुन्दर मूर्ति, यह हमारे अन्तःपुर में मलिका-ए-आलम के पास जायगी।"

"सम्राट् की इस गुणग्राहकता के लिए दास कृतज्ञ है।"

सम्राट् ने मुस्करा कर नौकर की ओर देखा।

उस दिन अन्तःपुर में जमशेद की उस कलामूर्त्ति की बड़ी चर्चा रही।

* * *

आसफ खाँ ने भी मूर्ति की चर्चा सुनी तो उसे भी देखने की इच्छा प्रबल हो उठी। जमशेद की कला का वह सदा से ही प्रशंसक था। उसका विश्वास था कि जमशेद की कला अत्यन्त महान् और विस्तृत है, परन्तु अभी तक अपनी समस्त कला का उसने उपयोग नहीं किया। यदि जमशेद अपनी समस्त कला का उपयोग करके कुछ बना सके तो सम्भवतः वह संसार की सर्वश्रेष्ठ कला-कृति होगी।

मूर्त्ति को देखने के लिए वह अन्तःपुर की ओर चल पड़ा। मूर्त्ति मलिका-ए-आलम के कमरे में रखी थी। आसफ खां को कहीं आने-जाने की रोक-टोक नहीं थी। उसके पिता का सम्राज्ञी के पुर्वजों से सम्बन्ध था। जब उसके पिता का रक्त मुगल-साम्राज्य के लिए बलि हो गया, तब वह बहुत छोटा था। शाही महल में ही उसका पालन-पोषण हुआ था। और मुमताज—वह तो उसे सदा ही स्नेह की दृष्टि- से देखती थी। नारी को अपने पितृ-कुल से स्वाभाविक स्नेह होता है और सम्राज्ञी के अन्तर की नारी को आसफ का बड़ा सम्मान था।

आसफ ने ज्यों ही अन्तःपुर में प्रवेश किया कि वहां की सुन्दरियों में एक स्पन्दन लहरा उठा। कितनी ही आँखें उठ कर यौवन के बसन्त से प्रफुल्ल आसफ के मुख पर आ टिकीं। उन आँखों में कितनी याचना, कितनी करूणा थी! परन्तु आसफ जैसे इन आँखों का अभ्यस्त हो गया है। उसका हृदय इनके सम्मुख पराजय स्वीकार करना नहीं जानता, परन्तु सम्राज्ञी के कमरे के द्वार पर पहुँच कर उसकी आँख एक बार चंचल हो उठीं चिलमन के बाहर से उसने देखा सम्राज्ञी अपनी प्रिय दासी नसीम के साथ बातें कर रही थीं। क्षण भर को वह रूका। नसीम के हँसने की

ध्वनि उसके कानों में पड़ रही थी। उसके हृदय में एक टीस उठी।...... वह नसीम उसके लिए एक पहेली बनकर ही रह जाती है। आसफ नारी सौंदर्य के निकट अपने को अजेय समझता है। परन्तु नसीम के सम्मुख आते ही वह पराजित-सा हो उठता है। कई बार उसने सोचा कि सम्राज्ञी से वह इस दासी को अपने हृदय की सम्राज्ञी बनाने के लिए मांग ले। परन्तु उसका साहस नहीं पड़ा। वह जानता है कि सम्राज्ञी उसे बहुत प्यार करती है। वह उसकी बचपन की सखी रही है। उसे क्या वह अपने हृदय से दूर जाने देगी।

आसफ अपने विचारों में भूल-सा गया। तभी नसीम ने चिलमन हटाकर धीरे से कहा—"आपको मलिका-ए-आलम बुला रही हैं!"

आसफ की आँखें मुस्कुरा उठीं। उसने एक बार नसीम को निहारा, फिर कमरे में प्रवेश किया। सम्राज्ञी के निकट आकर खड़ा हो गया। सम्राज्ञी ने पूछा—"क्या बात है?"

"उस्ताद जमशेद की मूर्ति की चर्चा........"

वह बात पूरी भी न कर पाया था कि सम्राज्ञी बीच में ही बोली—"हाँ आसफ, वह मूर्त्ति तुम देखनाचाहते हो? बहुत ही सुन्दर बन पड़ी है।"

संसार का वह श्रेष्ठ कलाकार है, परन्तु उसकी कला को अभी पूर्ण प्रेरणा नहीं प्राप्त हुई—" आसफ ने उत्तर दिया। उसकी आँख पृथ्वी पर गड़ी थीं।"

आसफ की बात सुन कर नसीम ने उसे एक बार ताका। कितने दिनों से वह उस्ताद के बारे में सुनती आ रही है। पर आज तक उसने उसे नहीं देखा। हृदय में जाने क्यों धड़कन-सी होने लगी।

सम्राज्ञी ने नसीम की ओर इशारा किया, उसने मूर्त्ति लाकर सामने रख दी। उसके हाथों में कम्पन था, और दिल में धड़कन। उसे लगा वह मूर्त्ति जैसे सजीव हो उठी।

"ओह कितनी सुन्दर!" आसफ के मुँह से निकल पड़ा। एक बार

चुरा कर उसने नसीम की ओर देखा, पर वह उस समय सम्भवतः किसी दूसरी दुनिया में खोई, रास्ता खोज रही थी।

* * *

उस रात जब सारे संसार पर काला परदा पड़ चुका था, जब प्रत्येक प्राणी ने अपनी आँखें मूंद ली थीं, नसीम की आँखों में नींद न थी। उसकी सुन्दर पलकें स्मृति के बोझ से भी झुक न सकी थीं। हृदय का स्पन्दन बढ़ता ही जा रहा था। दीपक के धुंधले प्रकाश में वह अपने कमरे में टहल रही थी, परेशान हो कर।

उसे लगता था मानो कमरे की दीवारें उसकी ओर खिसकती चली आ रही हैं। आखिर कब तक वह कमरे में रह सकती थी! सिर से पैर तक अपने को काले बुर्के से ढांप कर वह अन्तःपुर से बाहर निकली। दीवार के किनारे-किनारे, अँधेरे में और कभी कभी बाग में पेड़ों की काली छाया में छिपती हुई, सदर दरवाजे की ओर वह शीघ्रता से बढ़ी चली जा रही थी। शायद अब भी अपने को वह संसार की पैनी दृष्टि से बचाये ही रखना चाह रही थी।

महल के बाहर आकर वह एक ओर चल पड़ी। उसके पांव लड़-खड़ा रहे थे। चोर पहली बार सेंध लगाने चला था। थोड़ी दूर आगे, सड़क के किनारे बने श्वेत पत्थर के भवन के सामने आ कर वह रुक गई। पत्थर की वे दीवारें उसकी आँखों के सम्मुख मानो सजीव होकर उसकी ओर घूर रही थी। दरवाजे के बगल वाले कमरे के द्वार पर आकर वह रुकी। कमरे में प्रकाश हो रहा था। उस्ताद जमशेद संभवतः अब तक अपने काम में व्यस्त थे। बाहर वाली खिड़की से झाँक कर नसीम ने अन्दर के प्रकाश में उस्ताद को सिर से पैर तक देखा। लम्बा गोरा कद, उन्नत ललाट और मुख-मण्डल पर आकर्षण का साम्राज्य। नसीम क्षण भर तक उस कलाकार की कलापूर्ण आकृति को निहारती रही। जमशेद के लम्बे बाल खिसक कर उसके मुँह पर आ लटके थे।

कितनी गम्भीरता उसके मुँह पर विराजमान थी। निर्जीव-प्रतिमा सी वह उसे देखती ही रही। हृदय-भर देख चुकने के बाद उसने दरवाजे पर जल्दी-जल्दी परन्तु धीमी-धीमी थपकियाँ दीं; आवाज सुनकर उस्ताद की ऊँगलियाँ रुकीं। मस्तक ऊपर उठा; दृष्टि उठ कर किवाड़ों पर गई, उसकी आँखों में आश्चर्य था। बाहर से फिर थपकी की आवाज आई, असन्तोष की एक अंगड़ाई लेकर द्वार खोल दिया।

सामने बुर्के से ढँकी एक स्त्री को देख आश्चर्य से वह एक पग पीछे खिसक गया। आगन्तुका ने आज्ञा की प्रतीक्षा लिए बिना ही कमरे में कदम रक्खा तो उस्ताद और पीछे हट गया। कमरे के बीच में पहुँच कर नसीम ये बुर्का उतार कर एक ओर रख दिया। उस्ताद ने आश्चर्य से नसीम के सुन्दर मुख की ओर देखा; लज्जा से वह रंगीन हो रहा था।

नसीम कुछ कहना चाह रही थी पर उसका कंठ जैसे रुंध गया हो। दम उसका घुटने लगा। उस्ताद ने पूछा—"तुम कौन, कौन हो और इतनी रात को तुम्हें यहाँ क्यों आना पड़ा ?"

"मैं मलिका-ए-आलम की खास बाँदी......।" फिर वह गूंगी हो गई। उस्ताद को आश्चर्य हो रहा था। और नसीम—उसका तो शरीर जैसे निश्चेष्ट हो रहा हो। उस्ताद ने पूछा—"इतनी रात को......।" और फिर वह रुक गया।

नसीम ने अपनी बड़ी-बड़ी आँखें उठा कर उसकी ओर ताका। उसने हिम्मत की। उस्ताद ने पूछा—"पर कैसे आई ? क्या मलिका-ए-आमल ने—"

"नहीं, उन्होंने मुझे नहीं भेजा।" अस्फुट शब्द उसके मुँह से निकल पड़ा।

"उन्होंने नहीं भेजा ? तब इतनी रात को यहाँ आई क्यों ?" उस्ताद के मस्तक पर रेखायें खिंच गईं। कहा—"फिर आप ने क्यों कष्ट किया ?........"

अब नसीम क्या उत्तर दे ? वह स्वयम् भी तो नहीं जानती कि वह क्यों आई ? क्यों उसने अंतःपुर के नियमों का उल्लंघन किया ।

वह चुप रही । उस्ताद ने जैसे उसके आशय को समझ कर कहा—"इतनी रात को आपका अकेले आना तो ठीक नहीं ही है ।"

"इसीलिए तो मैं रात को आई", नसीम ने किसी प्रकार उत्तर दिया । क्षणभर शान्ति रही । भला उस्ताद उस जबरदस्ती का क्या उत्तर दें । सहसा कमरे में एक खट की आवाज हुई । नसीम ने चौंक कर चारों ओर देखा । उसे डर लगा । उस्ताद की तूलिका चौकी के कोने पर रक्खी थी, वही खट से धरती पर गिरी थी । जल्दी-जल्दी नसीम ने कहा—

"जो मूर्ति आपने बादशाह सलामत को भेंट की है वह अंतःपुर में ही सजाई गई है । मुझे वह बड़ी पसन्द है । मैं आपको उसी के लिए बधाई देने आयी हूँ ।"

क्षण भर रुक कर उस्ताद ने कहा—"यह आपकी मेहरबानी है ।"

"मैं आपकी प्रशंसा अपने मुँह से और आपके सामने ही करना चाहती थी, इसीलिए यहाँ आई ।" नसीम ने पूर्ण साहस बटोर कर कहा ।

उस्ताद के चेहरे पर बच्चों जैसी, शरारत भरी मुस्कान की एक झलक दिखी । उन्होंने कहा—"रास्ते में अकेले आपको डर नहीं लगा ?"

"मेरी इच्छा डर से अधिक बलवती थी । इसके पहले आपकी कोई भी कृति मैंने नहीं देखी थी ।"

नसीम ने कमरे की दीवारों पर लगे चित्रों की ओर देख कर कहा—"यह सब आपके बनाये चित्र हैं ? कितने सुन्दर हैं ?"

उस्ताद को आज एक नया अनुभव हो रहा था । नसीम की प्रबल इच्छा उन्हें सम्राट् शाहजहाँ की आज्ञा से भी अधिक प्रबल प्रतीत हुई । उन्होंने अपनी कृतियाँ नसीम को दिखाना शुरू किया । नसीम मंत्र-मुग्ध

सी उन्हें देखती ही रही। उस्ताद ने अपनी प्रशंसा और भी न जाने कितनी बार सुनी थी, पर ऐसी प्रसन्नता उन्हें कभी नहीं हुई थी।

नसीम झुकी हुई एक चित्र देख रही थी और उस्ताद उसके निकट ही थे कि सहसा कमरे की खुली खिड़की से हवा का एक झोंका आया। नसीम के अलकों ने उड़कर उस्ताद के कपोलों को चूम लिया। उस्ताद का सारा शरीर सिहर उठा। वे हिल गए। अलकें समेटते हुए नसीम ने खड़ी होकर कहा—"अब मैं जाऊँगी।"

"हाँ, चलिये मैं आपको अंतःपुर तक पहुँचा आऊँ।"—उस्ताद ने अनमने से होकर कहा। मन में कहने लगे—'काश, वे अपने चित्र उसे पूरी रात दिखा सकते।'

"नहीं, नहीं। कोई देख लेगा!"—नसीम ने घबड़ा कर कहा—"मैं अकेली ही छिप कर किसी प्रकार भाग जाऊँगी।"

उस्ताद क्षण भर उसकी ओर देखते रहे। नसीम ने बुर्का अपने ऊपर डाल लिया तो सहसा उसके मुँह से निकल गया—"तुम्हें यों जाते देख मुझे दुःख होता है।"

नसीम ने मुस्करा कर अपनी दोनों मदभरी आँखें उठाई और उस्ताद की ओर देखा। उस्ताद के हृदय में एक टीस-सी उठी। नसीम एक शीतल निश्वास फेंक कर द्वार की ओर मुड़ी।

उस निश्वास ने उस्ताद को भीतर तक छू लिया। फिर दूसरे ही क्षण नसीम कमरे से बाहर अंधकार में धीरे-धीरे गुम हो गई। उस्ताद दूर तक उसे व्यर्थ ही देखते रहे। अब भी उसकी वे छलकती सी आँखें उस्ताद के आगे नाच रही थीं। उन आँखों में उस्ताद ने कुछ पा लिया था। उनके हृदय ने जोर से पूछा—"तो क्या नसीम फिर भी कभी आवेगी?" उस्ताद आकर कमरे में टहलने लगे। उन्हें स्वयम् अपने ऊपर आश्चर्य हो रहा था।

जीवन के इतने वर्ष उन्होंने व्यर्थ ही बिता दिए। उन्होंने अपनी कला को ही प्रेयसी मान रक्खा था। पर जो एक अभाव उन्हें सदा

खटका करता था, वह, बस यही था। पर उसने तो कभी किसी स्त्री के सामने पराजय नहीं खाई। और यह आज!

* * *

नसीम अन्तःपुर के द्वार के भीतर घुसने को ही थी कि उसे पीछे से पदध्वनि सुनाई दी। घबड़ा कर उसने चारों ओर देखा। उसका रक्त जम-सा गया। तभी न जाने कहाँ से आसफ खाँ आकर उसके सामने खड़े हो गये।

"नसीम!"

नसीम की आँखों के सामने अंधकार काला छाता ओढ़े खड़ा था।

"नसीम!"—आसफ खाँ का स्वर कठोर हो उठा, "तुम समझती थी कि सभी सो रहे हैं, पर मैं जाग रहा था। तुम काले बुर्के में थी, पर एक दर्जन बुर्के में भी मैं तुम्हें पहचान सकता हूँ। तुम जमशेद के पास गई थीं?"

नसीम जैसे गिरी पड़ती थी। उसने दरवाजे का चौखट पकड़ लिया। यह बिजली बिना बादल के कहाँ से टूट पड़ी।

"तुम इतनी बेशर्म हो? मैंने कभी नहीं सोचा था कि शाही हरम की कोई बाँदी इतनी रात में छिपकर अपने प्रेमी के पास जाय—। अगर कल मैं यह प्रकट कर दूं तो तुम्हारी क्या दशा होगी? कल ही तुम मलका की दृष्टि में कितना गिर जाओगी। फिर तुम्हारा क्या होगा, जानती हो! जीवित ही पृथ्वी में गाड़ दी जाओगी। चली हैं प्रेम करने!" आसफ बिगड़ा।

प्रेम! प्रेमी! तो क्या वह उस्ताद से प्रेम करने लगी है? नसीम के हृदय में विचारों का संघर्ष छिड़ा था। उसे चुप देख कर आसफ ने फिर कहा—

"नसीम, मैंने तुम्हें कुछ और ही समझ रक्खा था—यह नहीं सोचा था कि तुम यहाँ तक नीचे उतर सकती हो!"

नसीम जैसे तड़प उठी। उसने कौन सा ऐसा पाप किया है? यह आसफ कितना नीच है! उसका मुह क्रोध से तमतमा उठा। काँपते हुए स्वर में उसने कहा—"आसफ! तुम बड़े नीच हो। मैंने किया क्या है?"

"किया क्या?" आसफ खाँ अट्टहास कर उठा—"कुछ भी नहीं, मेरी भोली नसीम! कल मैं मलका से जब सब कह दूगा तब वही बतावेंगी कि क्या किया।"

नसीम मलका-ए-आलम का नाम सुन कर काँप उठी। उसकी आँखों के सामने उसका भविष्य बिखर गया। उसका स्वर धीमा पड़ गया और उसने कहा—"पर इससे तुम्हें क्या लाभ होगा, आसफ?"

"पर न भी कहूँ तो तुम मेरा कौन-सा हित करोगी?"

आसफ नसीम की ओर इस प्रकार देख रहा था जैसे बधिक जाल में फँसे पंछी को देखता है।

"अच्छा आसफ, मैं तुम्हारा कौन सा हित कर सकती हूँ?" नसीम डर गई थी।

"तुम सब कुछ कर सकती हो। कितने दिनों से तुम्हें अपने हृदय की रानी बनाने की आशा को पालता आ रहा हूँ। पर कभी तुम्हारा रुख न पाकर मैं चुप रहा। यदि तुम मुझसे प्रेम.........।"

नसीम बीच में ही बिगड़ कर बोली—"तेरी इतनी हिम्मत!...... नींच! पापी! नसीम तेरे डराने से किसी भी शर्त पर अपना शरीर न बेचेगी।"

"तो आसफ भी तेरे इस शरीर पर किसी दूसरे का अधिकार न होने देगा।" आसफ ने जोश के साथ उत्तर दिया। "प्रातः तक निश्चय करने का और अवसर है, नहीं तो कल जो होगा उसकी तुम स्पष्ट कल्पना कर सकती हो।"

फिर आसफ एक ओर चला गया और नसीम भी धीरे धीरे अपना पाँव उठाती हुई कमरे की ओर बढ़ चली।

* * *

आसफ खाँ ने अपनी बात पूरी की—पर जरा देर में। कारण नसीम ने क्षमा-याचना के रूप में ही सारी कथा मलका-ए-आलम को सुना दी थी। उसकी बात सुनकर सम्राज्ञी पहले तो चुप सोचती रहीं, फिर मुस्करा कर बोलीं—"तुमने गलती तो अवश्य की है पर यह तुम्हारी भावुकता का दोष है। प्रेम का सौदा इतनी जल्दी में नहीं करना चाहिए। मैं तुम्हें क्षमा कर दूंगी, पर वायदा करो कि—"

"हाँ मैं वचन देती हूँ मलका-ए-आलम, कि अब ऐसा न करूँगी।" नसीम ने कहा।

"ठीक!" सम्राज्ञी ने हँस कर कहा।

"पर क्या मैं उस्ताद से न मिल सकूँगी?" नसीम ने यह बड़े ही धीरे स्वर में कहा था, पर सम्राज्ञी ने सुन लिया और पूछा—

"तो क्या इतना होने पर भी मिलती ही रहना चाहती हो?"

नसीम ने गर्दन नीची कर ली।

"परेशान न होओ।" सम्राज्ञी ने कहा, "कोई नहीं जानता कि कल क्या होगा।" कह कर वह जोर से हँसी।

सम्राज्ञी का इतना ही आश्वासन काफी था। नसीम उठ कर चली गई। उसी दिन मलका ने सब बातें सम्राट को समझा कर बताईं। अपने मित्र जमशेद के लिए वह सब कुछ कर सकते थे—उसका दिल टूटने न देंगे वे। सम्राज्ञी के इस प्रस्ताव को कि उस्ताद का व्याह नसीम से कर दिया जाय सम्राट ने स्वीकार कर लिया। सम्राट ने यह भी निश्चय किया कि निकाह शाही ढंग पर हो।

फिर थोड़े ही दिनों बाद निकाह की तिथि भी शाहजहाँ ने निश्चित कराई। तैयारियाँ शुरू हो गईं। अब नसीम और उस्ताद नित्य ही

मिलते। जो बीज बोया गया था—अनुकूल वातावरण पा अंकुरित भी हो उठा।

एक दिन उस्ताद ने नसीम से कहा—"शायद संसार में हमारे जैसे दूसरे प्रेमी न मिलें—इसलिए, इस प्रेम की निशानी मैं ऐसी बनाना चाहता हूँ कि संसार में वह अमर बन जाय।"

"तुम्हारे नाम के साथ तो हमारा प्रेम भी मशहूर हो ही जायगा।" नसीम ने कहा।

"नहीं अपनी कला द्वारा मैं ऐसी चीज बनाना चाहता हूँ जो मेरा नाम अमर करे और साथ ही हमारे प्रेम की निशानी भी बन कर रहे। मैं एक ऐसे महल का नमूना बनाना चाहता हूँ जो आज तक शायद मनुष्य की सोचने की सीमा के बाहर हो हो। इतना सुन्दर! और यदि कभी मेरे पास धन हुआ तो उसे संगमरमर का बनवा कर संसार के लिए अपना और तुम्हारा प्रतीक छोड़ जाऊँगा।"

उस दिन जमशेद के प्रेमो कलाकार ने जो कल्पना की थी वह उसकी पूर्ति में शीघ्र ही लग गया, अपनो कल्पना में उसने एक सुन्दर महल की कल्पना की। पहले तो उसने उस महल का रेखा-चित्र तैयार किया, फिर उसका मिट्टी का एक नमूना छोटे से खिलौने के रूप में तैयार किया। नसोम ने देखा तो मन में सोचा—"उस्ताद ने सच ही कहा था—ऐसा सुन्दर कि देखने की कौन कहे, शायद मनुष्य ने ऐसे महल की कल्पना भो न की होगी। इतना सुन्दर—!"

उस्ताद ने यह देख कर थोड़ा सा हँस दिया। उसकी आँखों में हृदय का समस्त प्रेम छलक आया। वह बोले—"नसीम, मुझे इसके लिए प्रेरणा तुम्हीं से मिली और यह तुम्हारे ही लिए है।"

* * *

जीवन के पर्दे पर सुनहले चित्र अंकित होते जाते थे और मिटते जाते थे। उस्ताद जमशेद और नसीम अपने भावी जीवन की कल्पना कर रहे थे। निकाह होने में केवल चार ही दिन शेष हैं। सारी तैयारियाँ हो

चुकी हैं। सम्राट शाहजहाँ ने अपने मित्र जमशेद के विवाह के उपलक्ष में सारे महल को सजाने की आज्ञा दी। नसीम, सम्राज्ञी के निकट बैठी थी। शतरंज का खेल चल रहा था। सहसा सम्राज्ञी ने कहा—"नसीम तेरे निकाह में अब कितने दिन हैं?"

"चार दिन, सम्राज्ञी!" नसीम सिर नीचा किए हुए बोली। सम्राज्ञी के मुँह पर एक आकर्षक मुस्कान चमक उठी। उन्होंने अपनी बड़ी-बड़ी आँखें नसीम के चेहरे पर बिछा दीं, कहा—"नसीम, उस्ताद बड़ा भाग्यवान है। नहीं तो मेरी बाँदी की छाया भी उसे देखने को न मिलती।"

नसीम ने जब कुछ उत्तर न दिया तो सम्राज्ञी ने छेड़ा—"देख अभी तुझे यह भी तो सीखना होगा कि पति से कैसे बातें करेगी!"

एक दूसरी बाँदी जो कमरे में घुस रही थी बातें सुन कर बोली—"कितने दिनों से तो दोनों मिलते-जुलते आ रहे हैं। भला यह भी कोई शादी में शादी है।"

सम्राज्ञी मुस्करा उठीं तो अन्य सभी बाँदियाँ खिलखिला पड़ीं। इतने में सम्राट ने कमरे में कदम रक्खा। देखते ही सभी बाँदियाँ उठ खड़ी हुईं। सम्राट धीरे-धीरे आकर पलङ्ग पर बैठ गए। उनकी आकृति से चिन्तन की झलक प्रकट हो रही थी। ऐसा जान पड़ता था कि वे किसी गम्भीर विषय पर विचार कर रहे हैं।

बाँदियाँ एक-एक कर के चुपके-चुपके कमरे के बाहर हो गईं तो सम्राज्ञी ने पूछा—"सम्राट, आप के चेहरे पर यह बादल क्यों मँडरा रहे हैं?"

सम्राट ने मुमताज की हथेली को अपने हाथ में ले लिया। फिर उसकी ओर देखते हुए बोले—"मेरी मुमताज मुझे दक्षिण जाना होगा।"

प्यार से अपने कपोल को सम्राट के कंधे पर रखते हुए सम्राज्ञी ने कहा—"यह तो अच्छा है। मैं तो बहुत दिनों से दक्षिण देखना चाहती थी। सुना है वह बड़ा विचित्र देश है।"

"पर वहाँ मुझे विद्रोहियों का दमन करने जाना है।" सम्राट ने कहा।

"तो क्या मुझे नहीं ले चलेंगे?"

"नहीं, तुम्हें कष्ट होगा।"

पर सम्राज्ञी न मानीं। उनके भी जाने की तैयारियाँ शुरू हो गईं। सम्राज्ञी जहाँ भी जाती थीं, अपनी बाँदियों को भी साथ ले जाती थीं। पर इस बार उन्होंने कुछ ही बाँदियों को अपने साथ रखने का निश्चय किया। नसीम को बुलाकर उन्होंने कहा—"नसीम तुझे मैं साथ नहीं ले जाऊँगी। कहीं तेरे वियोग में उस्ताद का कोमल हृदय टूट न जाय। तू यहीं रह। लौट कर मैं तेरी शादी करूँगी।"

नसीम चुप रही। उसकी आँखें भर आईं। अपनी मलका से दूर रहना भी तो उसके लिए कठिन है। किन्तु........

दूसरे दिन प्रातः काल ही सम्राट ने सेना के साथ दक्षिण को प्रस्थान किया। मुमताज उनके साथ थी।

* * *

कहते हैं अदृश्य का हाथ बड़ा क्रूर होता है। सम्राट को देख कर वह एक बार अट्टहास कर उठा। विद्रोहियों पर तो उन्होंने विजय प्राप्त की, पर अपने ऊपर विजय पाने वाली मलका को उन्होंने खो दिया। उनके जीवन की यह महान पराजय थी। मुमताज के शव को लेकर वह आगरे लौटे पर उनका दिल टूटा था—आँखें गीली थीं।

सम्राट और सम्राज्ञी के दक्षिण प्रस्थान के कारण नसीम और उस्ताद का ब्याह रुक गया। मुमताज दोनों का विवाह अपनी उपस्थिति में ही करना चाहती थी। और फिर ये दो चार महीने कोई बहुत अधिक थोड़े ही होते हैं। पर उस्ताद के लिए ये दिन कठिन हो रहे थे। उसने अपने प्रेम की निशानी का निर्माण करना शुरू कर दिया था, सारे नगर में उसकी इस नई कृति की चर्चा होने लगी। उस्ताद अपनी इस कृति

को संसार से छिपा कर रखना चाहते थे। और अगर कभी बात भी आती तो उसे दिखाने से साफ़ इनकार कर देते।

महल का वह नमूना तैयार हो गया। उस्ताद की छेनी उस पर अंतिम प्रहार कर रही थी। नसीम आकर उस्ताद से थोड़ी दूर पर बैठ गई। उस्ताद ने एक बार दृष्टि उठा कर उसकी ओर देखा फिर कहा—"नसीम, हमारे प्रेम का यह प्रतीक बन गया।"

"अच्छा!" नसीम ने उत्तर दिया। उसकी आँखों से एक ज्योति निकल रही थीं। नसीम निकट आ गई और उस्ताद के बालों से खेलने लगी।

इतने में नौकर दौड़ कर भीतर आया।—"उस्ताद! उस्ताद!" और वह मूक हो गया। आँखों में पानी भरा था। जैसे सब कुछ लुट गया हो।

"क्या है?"—उस्ताद ने मुड़ कर उसकी ओर देखा।

"मलका-आलम—" आगे वह न बोल सका। बात जैसे उसके गले में ही समाप्त हो गई।

"अरे बता क्या बात है? क्या हुआ मलका को?" उस्ताद ने चौंक कर पूछा। नसीम उठ कर नौकर के निकट आ गई। दोनों की आँखों से कोई अज्ञात आशंका स्पष्ट हो रही थी।

"चली गईं दुनिया से!"

"आँय!" उस्ताद सर थाम कर बैठ गये। नसीम चीख कर गिर पड़ी। पर जो होना था वह हो चुका था। बिजली-सा यह शोक-समाचार सारे शहर में फैल गया था। चारों ओर मातम छा गया था।

सम्राट शाहजहाँ जब नगर में आये तो सारा नगर उनकी आत्मा की तरह कराह उठा। वे महल में जाकर छिप गये। आँखों से आँसुओं का तार टूटता ही न था। मलका की याद हरी होकर ही रहना चाहती थी। शासन के सभी काम बन्द थे।

दिन बीतने लगे। एक दिन सहसा सम्राट को स्मरण आया।

मुमताज ने नसीम का ब्याह उस्ताद से करने का निश्चय किया था। अपनी मलका की बची अभिलाषा उन्हें पूरी तो करनी ही होगी। उसी दिन उन्होंने आज्ञा दी कि उस्ताद और नसीम का ब्याह मुमताज की वर्षी के दिन हो।

आसफ ने जो यह सुना तो उसके मस्तक की नसों का रक्त उभर आया। दिन भर ही सोचता रहा। उस्ताद को नीचा दिखाना ही होगा। पर कैसे ? कोई उपाय सूझ न पड़ रहा था।

संध्या समय वह सम्राट के पास पहुँचा। भारत का शाहंशाह उस समय अपनी स्वर्गीया मलका के चित्र को गोद में छिपाये बच्चों की भाँति फूट-फूट कर रो रहा था। आसफ हाथ जोड़े खड़ा रहा। शाहंशाह की दुर्दशा देख कर वह भी विचलित हो उठा। शाहंशाह ने आसफ को देखा तो मुँह से निकल गया—"आसफ !" और वे फिर फूट पड़े।

आसफ का कंठ भर आया। थोड़ी देर बाद उसने सम्राट से कहा—"शाहंशाह, मलका की मृत्यु के लिए आप इस प्रकार कब तक रोते रहेंगे। सोचें तो, आप पर दुनिया का कितना बड़ा बोझ है। भला आपको हँसने-रोने की छुट्टी कहाँ !"

सम्राट चुप थे।

आसफ कहता गया—"मलका के लिए तो सारा देश रो रहा है। पर रो कर ही तो हम उनकी स्मृति अमर नहीं बना सकते, शाहंशाह ! आज देश के प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में यह आशंका है कि मलका की स्मृति अमर बनाई जाय। पर यह आप ही कर सकते हैं।"

सम्राट ने आँखें पोंछ कर उसकी ओर देखा। आसफ को उत्साह मिला। उसने कहा—"सम्राट, मलका की यादगार अमर बनवाएँ !"

सम्राट कुछ सोचते हुए कमरे में टहलने लगे।

दूसरे ही दिन सम्राट ने यह घोषणा की कि वे मलका-ए-आलम मुमताज महल की यादगार में एक ऐसा सुन्दर मकबरा बनवाना चाहते हैं

जैसा न तो अभी तक बना हो, न भविष्य में बन सके। कलाकारों से ऐसे सुन्दर मकबरे के निर्माण का नमूना माँगा गया।

देश के सभी कलाकारों ने सम्राट का आदेशपत्र पढ़ा। सभी एक सुन्दरतम नमूना तैयार करने में लग गए।

* * *

समय का चक्र अबाध गति से चल रहा था। मलका के मकबरे के लिए बहुत से नमूने सम्राट के पास आ गए थे। एक दिन सम्राट् ने सब को दरबार में मँगवाया। एक एक नमूने की परीक्षा की जाने लगी। अन्त में एक नमूना पसन्द किया गया—उसे पेशावर के एक शिल्पी ने भेजा था। इतना सुन्दर था कि किसी ने उसकी कल्पना भी न की थी। सम्राट ने उसे निकट से देखते हुए कहा—"इस मकबरे की नींव मलका की वर्षी के दिन पड़ेगी। उसके लिए स्थान आदि का प्रबंध होना चाहिए।" इतने में उन्हें याद आया—उसी दिन तो उन्होंने जमशेद के विवाह का आदेश दे रक्खा है। मलका की सभी इच्छाएँ एक ही दिन में पूरी हो जायेंगी। सम्राट की आँखें भर आईं। उन्होंने कहा—"उस्ताद जमशेद कहाँ हैं? उन्हें भी यह नमूना दिखाओ।"

आसफ झट से आगे बढ़कर बोला—"शाहँशाह, क्षमा करें। पर उस्ताद आजकल कहीं आते जाते नहीं। जाने क्या बात है। उन्होंने कोई नमूना भी सेवा में नहीं भेजा।"

शाहँशाह की आँखें झुक गईं। उस्ताद ने नमूना क्यों नहीं भेजा? शायद अभी बना नहीं सके। सम्राट ने अनमने भाव से कहा—"अच्छा तो उस्ताद के आने के बाद ही निश्चय किया जायगा।"

सम्राट उठने लगे तो आसफ ने फिर प्रार्थना की—"पर सम्राट उन्होंने एक नमूना बना रक्खा है। उसे शायद अधिक पुरस्कार की आशा में रक्खे हुए हैं।"

सम्राट ने आसफ की ओर तीव्र दृष्टि से देखा और कहा—"नहीं ऐसा कदापि नहीं होगा।"

सम्राट क्षण भर सोचते रहे, फिर बोले।—"अगर सच है तो वह नमूना मेरे पास हाजिर करो।"

आसफ को मनमागी मुराद मिल गई। दरबार उठ गया। आसफ बाहर आए। और अपने सैनिकों के साथ उस्ताद के घर चल पड़े।

उस्ताद अपने कमरे में उदास बैठे थे। उनकी कल्पना में अनेकों मकबरों के चित्र बन और बिगड़ रहे थे। तभी दरवाजे पर ठोकर लगी। परन्तु उस्ताद की समाधि भंग न हुई। नौकर ने दरवाजा खोल दिया—और कमरे में प्रवेश किया।

नसीम ने दरबार की बातें सुनी तो वह भी उस्ताद से मिलने चल पड़ी। जिस समय वह पहुँची—आसफ उस्ताद के कमरे के बाहर खड़ा था। नसीम को देखते ही कहा—"चलो बड़ा अच्छा हुआ, तुम भी आ गईं।"

नसीम ने एक बार उसकी ओर देखा, फिर उस्ताद के निकट चली गई। तभी आसफ कठोर शब्दों में गरज उठा—"उस्ताद !......"

उस्ताद की समाधि भंग हुई। मुड़ कर उन्होंने दरवाजे की ओर देखा।

"मलका के मकबरे का नमूना कहाँ है ?" आसफ ने पूछा।

"कैसा नमूना ?" उस्ताद ने आश्चर्य से आसफ की ओर देखा।

"वही जो तुमने तैयार किया है और अधिक इनाम की लालच में छिपा कर रक्खे हुए हो।"

"लालच में ! आसफ खाँ, कलाकार रुपये का लोभी नहीं होता। मेरे पास कोई नमूना नहीं है।" उस्ताद ने घृणा से उत्तर दिया।

"तो हमें तुम्हारे घर की तलाशी लेनी होगी। हमें पता है कि तुमने एक नमूना तैयार किया है।"

उस्ताद ने कोई उत्तर न दिया। उसका मुँह लाल हो गया। पर

वह उसी प्रकार बैठा रहा। आसफ के सिपाहियों ने कमरे की तलाशी प्रारम्भ की। अन्त में आबनूस की लड़की के एक पच्चीकारी किए हुए सन्दूक को जब वे खोलने लगे तो नसीम सामने आकर खड़ी हो गई। बोली—"इसको मत खोलो। इस पर तुम्हारा अपवित्र हाथ नहीं लगना चाहिए।"

उस्ताद ने उस ओर देखा और कहा—"वह किसी के देखने के लिए नहीं है।"

आसफ बोला—"उस्ताद हमें मूर्ख बनाते हो! मैं जान गया वह नमूना इसी बक्स में है।"

"अच्छा अलग हटो—हम दिखा देते हैं।" कह कर उस्ताद ने सन्दूक खोल कर अपने प्रेम के प्रतीक महल के उस नमूने को निकाल कर फर्श पर रक्खा।

आसफ खां ने देखा तो उसकी आँखें फैल गईं। इतना सुन्दर जब नमूना है तो वह जब असली रूप में तैयार होगा तो कितना सुन्दर होगा।

उसने कहा—"यही तो मैं खोज रहा था!"

"पर यह हमारे प्रेम की निशानी है—हम इसे किसी को नहीं दे सकते।"

"पर तुम्हें देना होगा।" आसफ का स्वर ऊँचा हो गया।

"कदापि नहीं—जब तक हम जीवित हैं यह किसी को नहीं दे सकते।"

"उस्ताद! इसे हमें सम्राट् के सामने ले जाना है। अगर यूँ न मानोगे तो हमें बल-प्रयोग करना होगा। और अगर मान जाओगे तो सम्राट् बहुत बड़ा इनाम देंगे।"

"आसफ! कला का मूल्य धन से कोई भी शाहंशाह नहीं चुका सकता।"

"जानते हो इसका परिणाम क्या होगा।"

"जानते हैं"—नसीम ने बीच में होकर कहा—"संसार का न्याय करने वाले शाहंशाह से हम अन्याय की आशा नहीं करते। जाओ तुम्हें जो करना हो, करना, हम अब सम्राट् से ही अपनी बात कहेंगे।"

सहसा दरवाजे पर कुछ आहट हुई। नसीम ने उधर देखा तो चीख पड़ी। दरवाजे पर सम्राट खड़े थे। उस्ताद ने बढ़ कर सलाम किया। आसफ सकपका कर पीछे हो गया। सम्राट् ने उसकी ओर देख कर कहा—"हट जाओ!"

आसफ भय से कांप रहा था। चुपचाप वह कमरे के बाहर चला गया। सम्राट् शाहंशाह फर्श पर रक्खे संगमरमर के उस नमूने के निकट ही आकर बैठ गए, और उसे ध्यान से देखते रहे। इतना सुन्दर! सम्राट् आत्म-विभोर हो गए।

थोड़ी देर बाद उस्ताद की ओर देखकर सम्राट् ने कहा—"जमशेद मैंने सब बातें सुन लीं हैं। तुम्हारी यह प्रेम की निशानी है तो क्या इसे तुम दोनों अपने प्रेम के साथ मुझे नहीं दे सकते?'

उस्ताद चुप थे। उनके अन्तर का द्वन्द्व उनकी आकृति पर प्रकट हो रहा था। भारत का सम्राट् शाहंशाह उस्ताद कलाकार के आगे याचक था। जमशेद ने नसीम की ओर देखा। आंखों ही आंखों में विचार विनिमय हुआ। और अन्त में उस्ताद जमशेद ने कहा—"सम्राट् अपने प्रेम की यह निशानी ही हम आप को न देंगे बल्कि अपनी मलका की स्मृति को अमर रखने के लिए हम दोनों अपने प्रेम को भेंट करते हैं। हम दोनों विवाह न करके अपने अतृप्त प्रेम को भी अमर बनाये रहेंगे।"

सम्राट् ने उठकर उस्ताद को गले से लगा लिया। उनकी आँखों में आनन्द के आँसू थे उस्ताद ने कहा—"बस हमारी एक प्रार्थना है कि यह मकबरा उसी स्थान पर बने, जहाँ सम्राज्ञी ने व्याह की बात नसीम से कही थी।"

सम्राट ने उस्ताद की इच्छा पूरी कर दी। जमशेद और नसीम के

प्रेम का वह प्रतीक आज तीन शताब्दियों से उसी स्थान पर यमुना में अपना सौन्दर्य आंकता हुआ खड़ा है, जहाँ रात की चाँदनी में वे पहले-पहल मिले थे। कहते हैं इसीलिए ताज महल का सौंदर्य चाँदनी रात में दुगना हो जाता है।

किन्तु जमशेद और नसीम की चिर-विरही अतृप्त आत्मनाएँ अब भी अपने प्रेम की निशानी के इर्द-गिर्द घूमा करती हैं।

श्री कमलापति त्रिपाठी

बस्ती के एक गणमान्य वकील। आयु में प्रौढ़त्व और वृद्धत्व के संक्रान्ति काल में, लेकिन हृदय के तरुण, पूर्णतया तरुण। बहुत दिनों से हिन्दी में हास्यरस की कहानियां लिखते रहे हैं। इधर उग्र का मतवाला प्रकाशित होने के बाद फिर उनकी लेखनी पर यौवन आ गया है।

बस्ती परिमल के प्रतिष्ठित सदस्य।

चक्रव्यूह

मलमास के दिनों में बाबा कनकटेश्वरनाथ महादेव के सामने पंडित जी नित्य महाभारत की कथा कहते थे और कलपू भगत श्रद्धाभक्ति पूर्वक सुनते थे। एक दिन पण्डित जी ने अभिमन्यु-वध की कथा कहते समय बतलाया।

"अभिमन्यु चक्रव्यूह के भीतर घुस तो गये, परन्तु निकल न सके। जब अर्जुन सुभद्रा से बाहर आने की विद्या वर्णन करने लगे तब वह सो गई, अतः गर्भ-स्थित बालक अभिमन्यु व्यूह से बाहर निकल आने के कौशल को सीख न सके। रथियों और महारथियों ने घेरकर उन्हें चक्र-व्यूह के भीतर मार डाला।"

कलपू भगत की समझ में यह बात नहीं बैठती थी कि किस प्रकार बेचारे अभिमन्यु को चक्रव्यूह से बाहर निकलने का उपाय न मालूम होने के कारण जीवन से हाथ धोना पड़ा। यदि भीतर घुसना जानते थे तो उसी मार्ग से बाहर निकल भागते। बाहर निकलने के लिये किसी विशेष चातुर्य्य की कौन सी आवश्यकता थी। भगत को लाख लाख समझाया जाता कि व्यूह कि रचना बड़ी अद्‌भुत होती है, यह असम्भव है कि जिस मार्ग से भीतर जाओ उसी मार्ग से बाहर निकल भागो; परन्तु भगत कभी मानने के लिए तैयार नहीं होते थे। उनकी सम्पुष्ट धारणा थी कि अभिमन्यु की

मृत्यु का कारण कपोल-कल्पित है। वस्तुतः वह इतने बड़े वीर नहीं थे जितना लोगों ने लिख मारा है, केवल छोटे बच्चे थे। युद्ध अतीव प्रचण्ड धनुर्धरों से हुआ, मोर्चा लेकर वीरगति को प्राप्त हुए, अतः लोगों ने अनुचित ख्याति देने के लिए कह दिया, "क्या करें बेचारे बाहर निकलने की विद्या सीख न पाये, माँ सो गई थी, नहीं तो भला उनको कोई मार पाता।" बात बनाते भी नहीं बनी, भला भीतर घुसने और बाहर निकलने की कहीं दो-दो भिन्न भिन्न कलायें होती हैं।

* * *

तीन दिन से स्त्री घर के बाहर नहीं निकली। धोती फट गई थी, जर्जर हो गई थी जैसे विधवा का हृदय। चीरें असंख्य थीं, गिनने के मान की नहीं, जैसे मनुष्यों की पापकृतियाँ अथवा गगनाङ्गण की नक्षत्र मालिकायें, बेचारी लज्जा निवारणार्थ यदि इधर खींचती तो उधर उघड़ जाता और यदि उधर ढकने का प्रयास करती तो तीसरी जगह खुल जाती जैसे दरिद्र गृहस्थ के एक अभाव की पूर्ति हुई नहीं कि दूसरा रक्तबीज की भाँति सामने आ खड़ा होता। पेबंद लगाते लगाते धोती का अपना कपड़ा कदाचित हो कहीं दो चार इंच रह गया हो और बेचारी वस्तुतः हो गई थी नाटक की यवनिका रँग-बिरँगी। अब पेबन्द भी फट चले थे। बड़े बड़े छेद थे, मानो किले की दीवार कहीं कहीं पर गोले से उड़ा दी गई हो, असंख्य पंक्चर, अनेक बर्स्ट, क्षत विक्षत जैसे युद्ध के मोर्चे से लौटा हुआ सैनिक।

* * *

रात्रि में भगत खाने बैठे। स्त्री ने आड़ से कहा, "कुछ कपड़े लत्ते की भी चिन्ता है कि आराम से पलथी मारकर ताबड़तोड़ रोटी ही भर गुलेचना जानते हो। साधुओं की भाँति केले का पत्ता, पेड़ की छाल पहिनाकर रखना चाहते हो क्या? कल धोती न आई तो साठों दण्ड एकादशी समझ लेना।"

भगत—"कहाँ से लाऊँ? कपड़ा तो मिलता ही नहीं।"

स्त्री—"जब गाँधी महात्मा घर घर चरखा बाँटते घूमते थे तब कहा कि एक ले लो, काता करो। थाना पुलिस के डर के मारे फूँक सरक गई। अब लो, बैठकर नानी के नाम रोवो। 'धोती नहीं मिलती,' 'धोती नहीं मिलती,' कहाँ से सब लोग लाते हैं? अच्छा कल उपवास न करा दिया तो अपने बाप की बेटी नहीं।"

सबेरे का काम और आज्ञोल्लङ्घन का दण्ड सब साथ साथ बतला दिये गये।

* * *

भगत सबेरे उठे तो बिना हाथ मुँह धोये स्वामिभक्त भृत्य की भांति आज्ञापालन के लिये चल दिए बाजार। देखा कि लाला हजारीमल की दूकान के सामने जनता का अपार समुद्र उमड़ा चला आ रहा है। दूकान बन्द है, हल्ला हो रहा है। कोलाहल में कुछ सुनाई नहीं पड़ता है। जो कोई आ पहुँचता, मुँह बाये, एँड़ी उठाकर भीड़ के अन्दर देखने का प्रयास करने लगता। कलपू यह दृश्य देखकर दङ्ग हो गया, कारण कुछ समझ में नहीं आया। पुलिस के सिपाही से पूँछ पड़ा "क्यों सरकार! लाला जी मर गये क्या? घाट पर ले जाने को तैयारी हो रही रही है? बड़े अच्छे आदमी थे।" सिपाही हँस पड़ा, "अजी कैसे भोंदू हो, यहाँ कपड़ा मिलेगा कपड़ा, लाला जी को कोटा मिला है धोती का, मारकीन का, अभी इन्सपेक्टर साहब आते होंगे, तब बिकना शुरू होगा। लेना हो तो जावो भीतर घुसो, पिछड़ गए तो रह जावोगे ताक पर।"

* * *

यह सुनना था कि कलपू प्रलयङ्कारी झञ्झावात की भांति भीड़ में घुस पड़ा, ढकेलता पकेलता, किसी को हाथ से हटाता, किसी को मोढ़े लगाकर, किसी किसी के तो पेट में केहुनी मार दी, कितनों के पैर कुचल डाले, एक की तो आँखों में अँगुली जाते जाते बची। तनिक सी देर में

भीड़ को चीरता फाड़ता कलपू मध्य भाग में जा पहुँचा, परन्तु आगे बढ़ना अब कठिन हो गया। लोग एक दूसरे से सटे हुये खड़े थे पसीने में तर। मानों गोंद लगाकर चिपका दिये गये हों अथवा भ्रातृप्रेम से द्रवीभूत होकर एक होने जा रहे हैं, बरसात के गुड़ की भांति। लोग ऊपर सिर उठाये साँस ले रहे थे, इन लोगों में कदाचित कोई घमण्डी नहीं था। धीरे धीरे चींटिया चाल से लोग आगे बढ़ रहे थे।

कलपू का गला किसी भले आदमी के दुपट्टे में फँस गया, खींचा खींची होने लगी, दमघुटने लगा, अब मरे कि तब। कलपू किचकिचा किचकिचा कर गला छुड़ाता, दुपट्टा नोंचता था, उधर वह दुपट्टे का स्वामी अपने गले की चीज को आँखों के सामने ही दूसरे के गले में लिपटी देखकर बौखला उठा, जल्दी जल्दी अपनी ओर खींचने लगा। कलपू ने समझ लिया कि अब अन्त समय आ गया। श्रीकृष्ण भगवान का स्मरण हो आया और याद आई द्रौपदी जिन की लाज रक्खी थी भरी सभा में, याद आये गजग्राह जब भगवान् ने आर्त्तपुकार सुनकर भक्त की रक्षा की थी, फिर याद आये बेचारे अभिमन्यु जिनको चक्रव्यूह के भीतर योद्धाओं ने घेरकर इसी प्रकार मार डाला था। इतने में किसी विद्यार्थी के पाकेट में रखी हुई निब पीछे पीठ में चुभ गई, चौंक पड़े, हाय! द्रोणाचार्य्य ने बाण प्रहार किया; जूते की नाल की रगड़ से सारा पैर छिल गया—ओंय! अश्वत्थामा ने दिव्यास्त्र भी चला दिया क्या? डंडे पर किसी का पैर पड़ गया, भगत ने खींचना चाहा, इतने में चार पाँच आदमी चढ़ बैठे डण्डे के एक सिरे पर, भगत दूसरा सिरा अब पकड़े न रह सके, अतः हाथ से छूटकर जा अँटका जाँघ पर, जाँघ बेचारी टूटने टूटनेको हो गई। बड़ी कठिनता से डण्डा जाँघ को छीलता छीलता पृथ्वी पर गिरा—हाय राम! अभिमन्यु अब तो निरस्त्र हो गये। किसीका घुटना पैर के बाजतोड़ में लग गया—बाप रे दादा! कृपाचार्य ने मर्म-स्थल पर वार किया। दुपट्टे वाले ने समझा कि कोई छटा बदमाश है, कपड़ा गले में लपेटकर भीड़ से भागना चाहता है, दो तीन थप्पड़

तड़ातड़ मुख पर दिये—कर्ण ने अपनी अमोघ शक्ति छोड़ दी क्या? झगड़ाझंझट देखकर सिपाहियों ने डण्डा बरसाना प्रारम्भ कर दिया—दुःशासन, सुयोधन, शकुनिका शस्त्र संचालन हुआ। कमीज़ के दोनों हाथ तो बहुत दिन पहले कटकट गिर गये थे न मालूम कहाँ, सहस्रबाहु की भुजाओं की भांति! परन्तु आज इस रणभूमि में आगे पीछे का भाग भी न मालूम कब खिसककर गिर पड़ा केवल कालर भर गले में पड़ा रह गया जैसे कुत्तों के गले में घड़े का शिरोभाग—अभिमन्यु कवच रहित हुए।

इतने में पुलिस वालों ने झगड़ा निपटाने की इच्छा से भगत के प्रतिद्वन्द्वी को भीड़ से निकालकर सहसा दूकान पर खड़ा कर दिया, परन्तु दुपट्टे का एक छोर हाथ में मज़बूती से पड़ा रहा, भला अपनी चीज़ का पल्ला कोई कैसे छोड़ देता! सामने से अविलम्ब हटा, पीछे से सहसा धक्का हुआ, प्रतिपक्षी ने दुपट्टा झटक भी दिया, भगत के पाँव उखड़ गये, गिरे धम्म से। दूकान की ओर से सिपाहियों ने भीड़ पीछे निर्दयतापूर्वक ठकेल दिया। दस बारह आदमी भगत की छाती पर, हाथ पाँव पर चढ़ बैठे। नीच जयद्रथ का मुँह नाक पर पाद प्रहार भी हुआ। सब रथी महारथी छाती पर सवार, रौद्ररूप भयानक विपक्षी कालान्तक सामने, गले में यमपाश, प्राणपखेरू पर फैलाये तैयार उड़ने को, अतः भगत चिल्लाने लगे।

"अभिमन्यु मरे, बाप रे बाप अभिमन्यु मरे।"

"हटो बचो," "हटो बचो," सिपाहियों ने पीट पाट कर सब को खींचखाँचकर भीड़ हटाया। भगत भी किसी न किसी प्रकार उठे। पुलिस ने दो डंडे दिये ऊपर से घलुआ, "साले बदमाश, सीधे सीधे अपने मरने की तो नहीं कहते, 'अभिमन्यु मरे' 'अभिमन्यु मरे'; अभिमन्यु कौन हैं साले तुम्हारे बाप? दुश्शील दुश्शासन तनय की गदा का वार हुआ।

भीषण विकलाङ्गता के कारण विह्वल, भग्नहृदय भगत किसी न किसी

प्रकार गिरते पड़ते घर पहुँचे, शिर फूट गया था, नाक से रक्त की धारा प्रवाहित हो रही थी, एक दाँत टूट गया, पैर सब छिल गया, पञ्जर की हड्डियाँ, बापरे बाप ! चकना चूर हो गईं। सावधानतापूर्वक गिनने से सब चोटें मिलकर कदाचित् राणासाँगा के बराबर हो जातीं। अपनी धोती तो अब बत्ती बनाने के योग्य हो चली थी। चौबे दुबे हुए। गये आँगन में टूटी चारपाई पड़ी थी, गिरे धड़ाम से, कराहने लगे। स्त्री ने सोचा, "बड़े चगड़ बनते हैं, कपड़ा नहीं लाये, कहीं घूमते घामते रहे होंगे, यहाँ आकर यह स्वाँग रच लिया है जिससे कुछ कहे सुने न जायँ।" तुरन्त बोल पड़ी, "हैज़ा हो गया क्या ? कपड़ा तो मिलता ही नहीं, अब कफ़न कहाँ से आयेगा।"

भगत आग बबूला हो गये, "आओ, आओ, सुपनखा डायन, सुरसा डोमिन, ताड़का राक्षसिन, नज़दीक आओ, अभी धोती देता हूँ रेशमी, ऐसी अच्छी कि तबीयत खुश हो जायगी।" आवेश में उठने का प्रयास करने लगे, उठ न सके हाय राम !, कराहकर चारपाई पर गिर पड़े, सोचने लगे "रण से भाग आने पर उत्तरा भी कदाचित् अभिमन्यु का स्वागत इन्हीं शब्दों में करती।"

रात्रिभर भगत की आँखों के सामने कथा में सुने हुए अभिमन्यु-वध का दृश्य नाचता रहा, द्रोणाचार्य का प्रहार, अश्वत्थामा का दिव्यास्त्र, कृपाचार्य आदि का शस्त्रास्त्र सञ्चालन, कर्ण का शरसंधान आदि। परन्तु जब अभिमन्यु की छाती पर महारथी चढ़ बैठते, दुष्ट दुपट्टे वाले की लाल आँखें, लोमहर्षिणी भयावनी मुखाकृति सामने आ जाती तब भगत की देह सिहर उठती, भय से कँपकँपी पैदा हो जाती, चीख निकल पड़ती "अभिमन्यु मरे, बाप रे दादा, अभिमन्यु मरे।"

अब जाकर विदित हुआ कि चक्रव्यूह के भेदन तथा बहिर्निष्क्रमण की विद्या अवश्य अलग-अलग होती होगी।

रेवरेण्ड फ़ादर कामील बुल्के

बेलजियम के फ्लेमिश प्रदेश के निवासी ! तरुणाई में ही परिवार से विदा ले कर वैराग्य का बाना धारण कर धर्म की सेवा के लिए विश्वसंस्कृति की मातृभूमि भारत की ओर प्रस्थान कर दिया। तब से हिन्दी को अपनी भाषा, भारत को अपना देश और सूर, तुलसी, भारतेन्दु और प्रसाद के साहित्य को अपना साहित्य मान लिया। बी० ए० तक संस्कृत पढ़ा, प्रयाग से हिन्दी में एम० ए० किया और अब यहीं राम कथा के विकास पर खोज कर रहे हैं। फ्लेमिश होते हुए भी इतनी शुद्ध हिन्दी का धाराप्रवाह उच्चारण कि ताज्जुब होता है। फ्रेन्च फ्लेमिश, जर्मन, इंगलिश, संस्कृत और हिन्दी पर समान अधिकार है।

तीस वर्ष की आयु, भूरी दाढ़ी और लम्बे धार्मिक चोगे के बावजूद शिशुओं का सा सरल स्वभाव और स्नेहमय व्यवहार। मन में वैष्णव सन्तों की सी चेतना जो साधना में ज्ञान की अपेक्षा भक्ति और भावना का आधार लेती है। इसी लिए साहित्य की रंगीनियों के प्रति एक निर्लेप आकर्षण।

स्वयम् ललित साहित्य कम लिखते हैं, लेकिन ये कहानियां बताती हैं कि आप की कलम में कितना रस छिपा रक्खा है।

चुहिया और संगतराश

पंचतंत्र में मूषिका के विषय में एक आख्यायिका मिलती है जिसका तात्पर्य है—'योनिर्हि दुरतिक्रमा' (दे० तृतीय तंत्र, नवीं कहानी)। यह किंचित परिवर्तित और परिवर्द्धित रूप में आठवीं शताब्दी की एक अरबी पुस्तक 'कलिला और दिम्न' में और अन्यत्र भी मिलती है। मेरी मातृभाषा में यह कहानी बहुत कुछ बदल गई—चुहिया एक संगतराश में परिवर्तित हो गई है तथा कहानी का नया तात्पर्य यों है—'स हि भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला'।

१—चुहिया

एक ऋषि गंगा में स्नान करके आचमन करने पर थे कि एक चुहिया की बच्ची श्येन (बाज) के मुँह से उनके करतल पर गिर पड़ी। उन्होंने उसे वट-वृक्ष के एक पत्ते पर रख दिया तथा स्नान आदि करके घर की ओर चल दिए। चुहिया का स्मरण करके वे सोचने लगे—'मैंने अनाथ चुहिया को छोड़ करके निर्दय कार्य किया है। यह मेरा अधर्म है। अब से लेकर मैं उसका संरक्षक हूँ।' यह सोचकर वे लौटे और अपने तपोबल द्वारा उन्होंने उसे एक कन्यिका में बदल दिया। उसे घर ले जाकर उन्होंने अपनी पत्नी को उसे यह कहकर दे दिया—'यह तुम्हारी पुत्री है। उसे

अच्छी तरह पालना।' अतः ऋषि-पत्नी ने उसका लालन-पालन किया।

जब उसकी अवस्था बारह वर्ष की थी ऋषि सोचने लगे—इसका कालातिक्रम अनुचित है। कहा है।

पितुः गृहे तु या कन्या रजः पश्यत्यसंस्कृता।
अविवाह्या तु सा कन्या दम्पती वृषलौ स्मृतौ॥

अतः मैं किसी योग्य और बलवान (वर) को उसे दे दूँगा। कहा है—

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम्।
तयोर्विवाहः सख्यं च न तु पुष्ट विपुष्टयोः॥

यह सोचकर उन्होंने सहस्रकिरण भगवान् (सूर्य) से कहा—'आप बलवान् हैं। आप मेरी पुत्री से विवाह कीजिये।' सर्ववृत्तान्तदर्शी भगवान् लोकपाल (सूर्य) ने उत्तर दिया—'मेघ मुझसे बलवान् होते हैं। उनके छा जाने से मैं अदृश्य हो जाता हूँ।'

यह सुनकर ऋषि ने मेघ से कहा 'मेरी पुत्री को ग्रहण कीजिए'। मेघ ने उत्तर दिया—'वायु मुझसे बलवान् है। वह मुझे जिधर चाहता है उधर उधर ले जाता है'।

ऋषि ने वायु को बुलाया और उससे कहा—'मेरी पुत्री को ग्रहण कीजिए'। वायु ने उत्तर दिया—'पर्वत मुझसे बलवान् हैं। मैं उसे अंगुलिमात्र भी नहीं हिला सकता हूँ।'

अतः पर्वत को बुलाकर ऋषि ने उससे कहा—'आप मेरी कन्या को ग्रहण कीजिए'। पर्वत ने उत्तर दिया—'क्या हम सचमुच अचल होते हैं? चूहे हमसे बलवान् होते हैं। वे हममें सैकड़ों छिद्र बनाते हैं।'

यह सुनकर ऋषि ने चूहे से कहा—'मेरी कन्या को ग्रहण कीजिए।' चूहे ने उत्तर दिया—'यह किस तरह मेरे बिल में घुसेगी।' तब ऋषि ने उसे पुनः चुहिया बनाकर उसे चूहे को दे दिया।

२—संगतराश

एक मनुष्य चट्टान से पत्थर गढ़ा करता था। वह परिश्रम तो करता

था बहुत, परन्तु मज़दूरी मिलती थी कम। वह सन्तुष्ट न था उसका कष्टमय जीवन उसको अच्छा न लगा और वह कहने लगा—'मेरा जी चाहता है कि मैं लखपति बन जाऊँ और रत्नजटिल पलंग पर आराम करूँ।' और देखो, उसी क्षण एक स्वर्गदूत ने आकर कहा—'आपकी इच्छा पूरी हो।' और संगतराश से वह लखपति बन गया और रत्नजटित पलंग पर आराम करने लगा।

एक दिन लखपति ने राजा को देखा, जो शिकार खेलने जा रहे थे। राजा के रथ के चारों ओर घुड़सवार सेवा में उपस्थित थे, और राजा के ऊपर छत्र भी शोभायमान था। लखपति यह देखकर बहुत उदास हुआ। उसका सारा सन्तोष लुप्त हो गया और वह कहने लगा—'मैं राजा बनना चाहता हूँ'। और देखो, उसी क्षण एक स्वर्गदूत ने आकर कहा—'आपकी इच्छा पूरी हो।' और लखपति से वह राजा बन गया। उसके रथ के चारों ओर घुड़सवार सेवा में उपस्थित रहते थे और उसके सिर पर छत्र विद्यमान था।

थोड़े समय के बाद ग्रीष्म ऋतु थी। सूर्य ने पृथ्वी को तपाकर उसकी सारी हरियाली हर ली। राजा को भी धूप और गरमी के कारण बहुत कष्ट हुआ करता था। वे सन्तुष्ट न थे क्योंकि सूर्य उनसे भी शक्तिशाली प्रतीत होता था। वह कहने लगे—'मैं सूर्य बनना चाहता हूँ।' और देखो, एक स्वर्गदूत ने आकर कहा—'आपकी इच्छा पूरी हो।' और राजा से वह सूर्य बन गया। अब वह अपनी किरणें चारों ओर फैलाता रहा। पृथ्वी की हरियाली उसकी धूप के सम्मुख ठहर न सकी और वह राजाओं को भी कष्ट देता रहा।

लेकिन बरसात में बादलों ने पृथ्वी को ढक कर सूर्य की किरणों को रोक लिया। सूर्य को बहुत क्रोध आया लेकिन विवश होकर उसको मानना पड़ा कि बादल मुझसे शक्तिशाली होते हैं। उसका सन्तोष फिर लुप्त हुआ और वह कहने लगा—'मैं बादल बनना चाहता हूँ।' और देखो, एक स्वर्गदूत ने आकर कहा—'आपकी इच्छा पूरी हो!' और

सूर्य से वह बादल बन गया। अब वह अपने को सबसे शक्तिशाली समझता था। वह सूर्य और पृथ्वी के बीच में आकर अपने इच्छानुसार धूप को रोकता था। जहां चाहता वहाँ पानी बरसाता था और घास, धान आदि आ जाता था। बादल अधिक बरसने लगा, नदियां बढ़ गईं, गांव और शहर बह गए। कोई भी बादल का सामना न कर सका।

बादल चट्टान पर बरसने लगे, लेकिन चट्टान पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ अन्त में उसको हार माननी पड़ी। बादल कहने लगा—'चट्टान मुझसे शक्तिशाली है। मैं चट्टान बनना चाहता हूँ।' और देखो एक स्वर्गदूत ने आकर कहा —'आपकी इच्छा पूरी हो।' और बादल से वह चट्टान बन गया अब उसे किसी का भी डर न रहा। न सूर्य की किरण से और न बादलों की वृष्टि से।

एक दिन एक संगतराश आकर उस चट्टान से पत्थर काटने लगा। चट्टान बोल उठी—'यह क्या हुआ कि यह मनुष्य मुझसे शक्तिशाली है और मेरी छाती से पत्थर काटता है।' और उसको सन्तोष न था। वह कहने लगी—'मैं यह मनुष्य बनना चाहती हूँ।' और देखो, एक स्वर्गदूत ने आकर कहा—'आपकी इच्छा पूरी हो।' चट्टान से वह संगतराश (पत्थरकट) बन गया। वह नित्य चट्टान से पत्थर काटा करता था। उसका परिश्रम था बहुत भारी और मजदूरी बहुत थोड़ी। फिर भी इसके सन्तोष की सीमा न रही।

श्री गिरिधर गोपाल एम० ए०

ज़िन्दगी जब किसी को बेहद तकलीफ़ देती है तो या तो उसे रुला रुला कर थका देती है या हंसा हंसा कर ! गिरिधर के बारे में शायद ज़िन्दगी अभी तक निश्चित नहीं कर पाई कि उन्हें रुला रुला कर थकाए या हंसा हंसा कर। शायद इसी लिए जब गिरिधर अपनी कविताएं पढ़ते हैं तो-फिजाएं आंसू से गीली हो उठती हैं, और दूसरे ही क्षण जब बातें होती हैं तो वातावरण ठहाकों से गूंज उठता है।

संगीत और वातावरण निर्माण, यह गिरिधर की कला की अपनी विशेषता है। उनके गीतों की भी और उनकी कहानियों की भी। कहानियों में एक अव्यक्त संगीत गूंजता रहता है जो कभी करुण, कभी भयावह, और कभी बहुत मधुर हो जाता है। इधर उन्होंने मृत्यु और श्मशान पर बहुत से गीत लिखे हैं और यह कहानी भी उसी दिशा की है।

कहानियों के चरमोत्कर्ष के विषय में गिरिधर की अपनी एक आदत है। जिस तरह कोई वीणा-वादक गीत सुनाते गीत बन्द करना चाहे तो उसे चरम आवेश, या सम पर न लाकर सहसा उसके वीणा के तार तोड़ दे, उसी तरह गिरधर भी सहसा कहानी के तार झटके से तोड़ देते हैं ! यह एक कहानीकार और कवि की टेकनीक का समझौता है।

आज कल आप इतिसास में रिसर्च कर रहे हैं, और 'परिमल' के संयोजक रूप में उसका सुचारु संचालन।

श्मशान में

रात्रि का प्रथम प्रहर, बुझे-बुझे से चांद-तारे प्रखर वेग से बहता हुआ पवन, जलधारा में एक तूफान; और गंगा जी के किनारे जीवन और मृत्यु के बीच एक सराय सा खड़ा वह श्मशान ! लहरें उठती हैं, यौवन के मद में कोई खोई खोई सी झूमती हैं, किन्तु किनारे तक आते आते मरघट का भयानक अट्टहास सुनकर कांपने लगती हैं। जीवन को समझने के पहले ही बुलबुले फूट जाते हैं। दूर पीपल के पेड़ ! कभी-कभी उलूक अपने पंख पड़फड़ा कर किसी अज्ञात गंतव्य की ओर उड़ जाते हैं। पेड़ों में दो-चार घड़े टंगे हैं, जिनसे एक एक बूंद पानी गिर रहा है। कुछ छेद की हुई हांड़ियां भी टंगी हैं जिनके अन्दर जलते हुए दीपों का प्रकाश सहमता हुआ बाहर निकल रहा है। एक एक बूँद पानी, उनकी प्यास बुझाने के लिए, जिन्हें जीवन भर प्यासा रहना पड़ा हो; सहमता हुआ प्रकाश उनके लिए जिनका जीवन ही एक अमावस्या सदृश तड़पा हो ! चिता जल रही है ! हरी, लाल, नीली, पीली ! मांस, मज्जा, धूप, घी, चन्दन इत्यादि के साथ साथ जलने से एक अजब गन्ध फैल रही है, शायद जहर के नशे में चूर मृत्यु की उसांस सी ! धुंए के पंखों पर चेतना उड़ी जा रही है, दूर क्षितिज के पार।

शव को लाने वाले व्यक्ति दो-दो, चार चार की संख्या में घेरा बनाए अलग अलग बैठे बातें कर रहे हैं।

बालू पर लेटकर अंगड़ाई लेते हुए रमेश ने कहा—"कन्धे टूट रहे हैं, पैर बेकाम हो गए, जोड़ जोड़ में दर्द हो रहा है।"

"लाश तो इतनी भारी नहीं थी," जम्हाई लेते हुए प्रभू बोला—"और फिर तीन महीने से सुधीर की पत्नी बीमार थी, सूखकर कांटा हो गई थी। हां, हम लोग बहुत तेज चलकर आए, इसीलिए थकान मालूम हो रही है। तीन मील का रास्ता घंटे भर में पूरा किया......"

"लेकिन हमने यह अच्छा नहीं किया," बात काटते हुए महेन्द्र ने कहा—," लोग नाक-भौं सिकोड़ रहे थे। शव को धीरे धीरे सम्मान-पूर्वक लाना चाहिए था। ईसाइयों और मुसलमानों में शव की अन्तिम यात्रा के समय कितना सम्मान देते हुए धीरे धीरे ले जाते हैं!"

"अरे, चुप भी रहो, यार," बिगड़कर रमेश बोला—"सम्मान-सम्मान तो सब चिल्लाते हैं, लेकिन कंधे तो हमारे टूट रहे हैं। दिन भर दफ्तर में मरो और लौटकर मुर्दा ढोओ। सिनेमा जाने का प्रोग्राम बनाया था, पर क्या करूँ, न आता तो सुधीर बुरा मान जाता। लाओ, सिगरेट निकालो।"

"सिगरेट से क्या काम चलेगा," प्रभू ने कहा—"इस वक्त तो एक-एक पेग ह्विस्की होती, सारी थकान मिट जाती।"

"अच्छा एक बात पूछूं," पास खिसकते हुए महेन्द्र ने रहस्यात्मक शब्दों में कहा—"सुना है सुधीर अपनी पत्नी को प्यार नहीं करता था और उसका मिस क......"

"हां, हां," प्रभू ने बात पूरी की—"मिस कमला से हजरत का रोमांस एक अर्से से चल रहा है। यह बात तो बहुत पुरानी है। बच्चा बच्चा जानता है।"

"लेकिन यह मिस कमला हैं कौन?" रमेश ने उत्सुकता से पूछा—"कहां रहती हैं? कैसी हैं?"

प्रभू ने कुटिल मुस्कान बिखेरते हुए कहा—"सुना है, वह लेडी डाक्टर हैं, बड़े बाप की बेटी हैं, खूबसूरत हैं; जवान हैं, आंधी हैं, तूफ़ान हैं।"

"अच्छा! तब तो उसने खूब हाथ मारा!" रमेश की वाणी ईर्ष्या से भारी हो गई।

"सुना है, दोनों साथ-साथ घूमने जाते हैं," महेन्द्र ने कहा—"घंटों मोतीबाग में घूमते हैं, सिनेमा में भी देखे गए हैं......"

"सच! किसने देखा यार! कौन कह रहा था!!" रमेश ने उठकर बैठते हुए पूछा!

"भाई हमने तो देखा नहीं, पता नहीं उस दिन कौन कह रहा था।" उत्तर मिला।

"नहीं, सुधीर ऐसा नहीं हो सकता," रमेश ने शंका प्रकट की।

"क्या मालूम भाई! यह दुनिया है," महेन्द्र ने सिर खुजलाते हुए कहा—"हम को क्या, हमारे लिए तो सभी अच्छे हैं। लाओ, सिगरेट निकालो। उफ, कितनी देर और है?"

"अभी क्या, अभी तो लाश आधी भी नहीं जली है," रमेश ऊबकर बोला—"अभी तो सिर्फ हाथ पैर अलग हुए हैं। क्या मुसीबत है। छोड़कर जाते भी नहीं बनता। अरे ओ श्याम बाबू! क्या बजा है?..."

"ग्यारह बजा है," दूसरे घेरे में बैठे श्याम बाबू ने उत्तर देकर पास बैठे हुए वकील साहब से पूछा—"कहो भाई, तुम्हारी प्रेक्टिस का क्या हाल है? सुना है कि खूब चमक गई। कितना पीट लेते हो महीने में?"

"प्रेक्टिस क्या चलती, पत्थर!" वकील साहब खीजकर बोले—"यह पेशा तो अब ओवर-क्राउडेड हो गया है। जिसको देखो वही वकील बना बैठा है। जितने मुवक्किल नहीं उसके हजार गुने तो वकील हैं। आता-जाता तो खाक नहीं, बस डिग्री ले ली और चक्कर लगाने लगे। डिग्री लेने से कहीं बहस करना आती है! मुकदमा समझने के लिए

दिमाग चाहिए, काला कोठ नहीं ! दस साल तक कोल्हू के बैल-सा जुता रहा, तब कुछ समझ पाया हूँ। और फिर यह पंचायत क्या कायम हुई, मानो कयामत आ गई। जिसे देखो वही पञ्चों के पास भागा जाता है। और हम हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं।"

मास्टर साहब ने संवेदना प्रकट करते हुए कहा—"लेकिन भाई किसी के गुलाम तो नहीं हो। कोई तुम्हें एक महीने के नोटिस पर निकाल तो नहीं सकता ! और फिर रोज नए-नए किस्से सुनने को मिलते होंगे। एक हम हैं, वही बाबर, हुमायूं, शेरशाह पढ़ाते-पढ़ाते उम्र बीती जा रही है। वही दर्जा, वही सीटें, वही किताबें और वही स्कूल ! एक गोला है जिसमें चक्कर लगाते रहो। न कोई नवीनता न कोई मौलिकिता। लड़के चाहे पढ़ें या न पढ़ें, स्कूल के नतीजे की जिम्मेदारी हमारे सिर, प्रिंसिपल साहब की नौकरी बजाओ, कार्यकारिणी समिति के सदस्यों की चापलूसी करो और इतना सब करने पर भी एक महीने के नोटिस पर 'गुड-बाई' ! यह है जिन्दगी !"

"कुछ भी हो यह पेशा बड़ा सम्मानित है," एक सम्पादक जी बोले—"बड़े-बड़े वकील, डाक्टर, कवि, लेखक, दार्शनिक, नेता इत्यादि सबको तुम्हीं लोग सांचे में ढालते हो यह देश की कितनी बड़ी सेवा है ! मानवता का कितना बड़ा उपकार है ! मुझे तुमसे ईर्ष्या होती है, मित्र ! तुमको पैसा कम मिलता है तो इससे क्या ? तुम एक महान कार्य कर रहे हो। रोना तो हमारे भाग्य में लिखा है। न स्वार्थ न परमार्थ, न इस लोक में शान्ति, न उसमें। साठ रुपये पर लेख छांटो, कम्पोज़िंग कराओ, ब्लाक बनवाओ, प्रूफ पढ़ो, विज्ञापनदाताओं को पत्र लिखो फिर भी प्रकाशक महोदय की आंख चढ़ी ही रहती है—'इस माह में आपने बहुत पारिश्रमिक बांट दिया ! लेखकों के चित्र छापने की क्या आवश्यकता, पत्रिका की सज-धज ठीक नहीं है, कोकशास्त्र का विज्ञापन कोने में क्यों डाल दिया ? काम न होता हो तो छोड़ दीजिए !' लुटेरा कहीं का, कहता है 'काम न होता हो तो छोड़ दीजिए।' रख तो ले साठ

रुपये पर मुझ जैसा सम्पादक। चार आदमी का काम अकेला करता हूँ। आज मैं भी मोटर में घूम सकता था। यह तो हिन्दी का प्रेम है जो मुझे इस नरक में रहने के लिए विवश किये हुए है। यार छेदीमल, मौज तो तुम उठा रहे हो।"

"मौज क्या उड़ा रहा हूँ बाबू जी, जान पर खेल रहा हूँ।'; हंसते हुए छेदीमल ने कहा—"मिल के मैनेजर को दो हजार रिश्वत दी तब कहीं माल मिला। दस हजार का कपड़ा खरीदा लेकिन कोई खरीदार ही नहीं। या यों कहिए कि किसी को कपड़ों की डिजाइन ही नहीं पसन्द आती। कहते हैं दाम ज्यादा लो, चीज मगर अच्छी दो। आप ही बताइये कहां से दू। चोर बाजार से कोसों दूर रहता हूँ। हमारे खानदान में कभी किसी ने 'ब्लैक' से कपड़ा नहीं बेचा। कभी एक पैसा ज्यादा मुनाफा नहीं लिया। खानेपीने से जो बचता है, वह गरीबों में बांट देता हूं। फिर भी कहने वाले कह ही देते हैं, किसी की जबान तो नहीं पकड़ सकता। और यह क्या! वाह-वाह! क्या फ़व्वारा छूटा! यह क्या था बाबू जी?"

"कुछ नहीं," वकील साहब ने कहा,—"लाश का पेट फूटा है पानी निकला है। तीन फीट तो ऊंचा गया होगा! ओफ़, बड़ी देर हो गई। बारह बज रहे हैं बच्चे परेशान होंगे, घरवाली अकेली है। क्या बताऊँ यह कमबख्त दुनियादारी भी अजीब चीज है। मोहल्ले का मामला था, आना ही पड़ा। जी तो नहीं चाहता था।"

"क्यों?" मास्टर साहब ने पूछा?

"क्योंकि—" वकील साहब नपे तुले शब्दों में बोले,—"जनाब, मैं आवारा औरतों की लाश के साथ जाने का कायल नहीं।"

"आवारा!" हंसते हुए सम्पादक जी ने कहा—"तो आप तक भी यह बात पहुँच गई! मेरे पास तो कई गुमनाम पत्र भी आ चुके हैं कि मैं अपनी पत्रिका में छाप दूं। और उस दिन पान की दूकान पर कोई कह भी रहा था कि सुधीर बाबू की पत्नी और उस इंजीनियर की आंखें

लड़ गई हैं। लड़कियों को स्कूल भेजने से और होगा क्या?"

"लेकिन यह सब आप लोग से कहा किसने?" मास्टर साहब ने संशय-सूचक शब्दों में कहा, "कुछ सच भी है?"

"अब जनाब, किसने कहा था, कब कहा था, किस वक्त कहा था, किसके सामने कहा था, क्यों कहा था, वगैरह वगैरह तो हमने नोट नहीं किया," वकील साहब बिगड़ कर बोले—"किसी ने कहा ही होगा। सच न होता तो कोई कहता ही क्यों। हमको और आपको कोई क्यों नहीं कहता? ओफ ओह! कितनी देर और है भाई!"

कुछ देर तक उस अँधेरी दुनिया में एक भयानक खामोशी छाई रही। लहरें दूने वेग से उमड़ रहीं थीं। पानी चिता से दो हाथ की दूरी तक आ गया था। घाट का महाब्राह्मण लाश के अधजले टुकड़ों को एक बांस के सहारे तोड़ तोड़कर धधकते हुए चैलों पर डाल रहा था। सहसा दूर आकाश में एक बड़ा-सा तारा टूटा और प्रकाश की एक लम्बी रेखा बनाता हुआ शून्य में खो गया।

"कितना भीषण उल्कापात!" तीसरे घेरे में बैठे हुए कवि जी ने कहा—"यौवन की आधी रात में यह सितारा टूट गया, किसी का साथी छूट गया, सहारा छूट गया! किसी को राह का दीपक बुझ गया! किसी की स्वप्न की दुनिया में अँधेरा छा गया! कितना बड़ा व्यंग है यह! जब पुतलियों पर साधों के घुँघरू कांपे, जब ओठों पर चाहों की पंखुड़ियां खुलीं, जब बांहों में एक नीर भरा तूफान उठा; तभी! तभी! सहा नहीं जाता! यह सब देखकर कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि हम किसके लिए जीते हैं! हमारा कौन है? धरती हमारी नहीं, आकाश हमारा नहीं, मृत्यु के बाद हमारा क्या होगा? क्या खूब लिखा है गालिब ने—

"अब तो घबरा के यह कहते हैं कि मर जायेंगे
मर कर भी चैन न पाया तो किधर जायेंगे!"

किधर जायेंगे! किधर जायेंगे! फिर यह रुपया पैसा धन-दौलत

किसके लिए ! इनका क्या महत्व है ! अरे......" और कवि जी के मुंह पर हवाइयां उड़ने लगीं, मालूम होता था कि बेहोश होकर गिरने वाले हैं।

"क्या हुआ ?" दार्शनिक जी ने पूछा।

"कुछ नहीं !" ठंडी सांस लेते हुए कवि जी ने उत्तर दिया।

"कुछ बतलाओ भी भाई।"

और कवि जी ने अपनी जेब से हाथ निकालते हुए सिसकते स्वरों में कहा—"मेरा पर्स कहीं गिर गया !"

"पर्स गिर गया, बड़े दुःख की बात है।" दार्शनिक जी बोले, "लेकिन तुम उसमें कर ही क्या सकते थे। तुम्हारा तो पर्स ही खोया है और लोगों के तो बच्चे खो जाते हैं, घर वाले मर जाते हैं ! हमारा जीवन किसी दूसरी शक्ति के अधीन है, उसी के इंगित पर यह सारा विश्व थिरकता है। जो कुछ वह चाहती है, वही होता है। जीवन के प्रति इतना मोह क्यों ? जब एक दिन हम सबको मरना है, इस शरीर को सजाने से क्या लाभ, एक दिन इसे भी राख होना है हम इसके पीछे पागल क्यों हों ? जी चाहता है कि सारे नाते-रिश्ते तोड़ दो, सब कुछ दान कर दो और अपना शेष जीवन उसी की आराधना में लगाओ। संसार मिथ्या है भाई ! चौरासी लाख योनियों में जीव भटकता है, मुक्ति ही हमारा ध्येय होना चाहिए, ज़ीवन तो नगण्य है......अरे बाप रे !!" जूता छोड़ कर दार्शनिक जी भागे, और उनके साथ साथ छाया के समान लिपटे हुए कवि जी भी। चौथे घेरे में बैठे हुए मुंशी खुरशेद बहादुर ने पूछा—"क्या बात है ?"

लोगों ने देखा कि, मुंह में कुछ दबाए एक सियार जंगल की ओर भागा जा रहा था।

एक कोने में अलग बैठे हुए बाबू बालमुकुंद ने पूछा—"बहू क्या बीमार थी बड़े बाबू ?"

उत्तर मिला, "टाईफाइड भाई ! हर तरह का इलाज किया,

वैदक, यूनानी, होमियोपैथिक, ऐलोपैथिक ! बड़े से बड़े डाक्टर को दिखलाया, रुपया पानी की तरह बहाया—मगर बेकार ! सब बेकार !! जो खाट पर पड़ा तो फिर उठकर नहीं खड़ी हुई । घर उजड़ गया, घर की लक्ष्मी चली गई ! इतनी सीधी, इतनी सुशील बहू ! हम उसे ठीक से नहीं रख सके, भैया, इसी से वह रूठ कर चली गई । पढ़ी-लिखी लड़कियां ऐसी लाखों में एक ही दो होती हैं । छोटे से लेकर बड़ा तक, सारा काम खुद ही करती थी । खाना बनाना, कपड़े धोना और कभी कभी तो चौका बर्तन तक ! रोज कोई नई चीज बनाती थी और कहती थी, बाबूजी यह आपके लिए बनाया है ।" कहते-कहते बड़े बाबू की आवाज कांपने लगी ।

"भगवान ऐसी बहू सब को दे !" मुंशी खुरशेद बहादुर बोले ।

गला साफ करते हुए बड़े बाबू ने फिर कहना शुरू किया । "खाने के बाद कभी गीता, कभी रामायण लेकर बैठ जाती थी और जब तक मैं सो नहीं जाता था, सुनाती थी ।"

"होता है वही जो मंजूर खुदा होता है," मुंशी रामजीवन बोले, "मेरी बहू भी इतनी कामकाजी थी कि घर भर उसे हाथों-हाथ उठाए रखता था । लेकिन करते क्या डाक्टर कोई ईश्वर तो हैं नहीं, रो-धोकर चुप हो गए ।"

"मेरा क्या भाई, पका आम हूँ, न जाने कब टपक पड़ूं । न जाने कब बुलावा आ जाय । किस्मत तो सुधीर की बुझ गई । मैं तो सोचता हूँ, भगवान ने बहू की जगह मुझे क्यों नहीं उठा लिया ! पापी हूँ, शायद इसीलिए नहीं । अच्छे आदमियों को भगवान भी जल्दी बुला लेता है । साल भर भी शादी को नहीं बीता था । अभी तो दोनों के खेलने-कूदने के दिन थे । अभी उन्होंने देखा ही क्या था ? भरी जवानी में लुट गया मेरा सुधीर ।"

"सुधीर बाबू की देखभाल करने की अब ज्यादा जरूरत है ।" मुंशी उनका ध्यान किसी दूसरी ओर न लगाया गया तो न जाने क्या हो ।

खुरशेद बहादुर ने कहा—"यह वक्त बड़ा नाजुक होता है। चोट दिल में घर बना लेगी। उनको कभी अकेला न छोड़ा करियेगा।"

"मेरी राय में तो," मुंशी रामजियावन बोले—"अगर बुरा न मानिये तो एक बात कहूँ। सुधीर बाबू की दूसरी शादी कर दीजिए।"

"अभी नहीं, अभी नहीं! अभी तो..." बड़े बाबू आगे न बोल सके।

"अरे तो मैं आज ही थोड़ा कहता हूँ, "मुंशी रामजीयावन ने कहा—"राम! राम! मेरा मतलब हैं कि साल भर के अन्दर।"

"आपकी राय बड़ी अच्छी है," बा० बालमुकुन्द बोले—"मेरे भैया को ही देखिए, पचास बरस के थे जब भौजी का चोला छूटा था। दो ही महीने के अन्दर इतने दुबले हो गए कि पहिचाने नहीं जाते थे न खाना, न पीना, न पहिनना न ओढ़ना। हार कर कानूनगो चाचा ने भैया की तीसरी शादी कर दी। आप तो जानते होंगे मुंशी रामजीयावन लाल, अरे वही राम प्रसाद, फाफामऊ वाले बा० रामप्रसाद के यहां शादी हुई थीं। शादी के लिए बा० रामप्रसाद कितना परेशान थे। अठारह बरस की उमर हो गई थी और लड़की कुंवारी बैठी थी। पैरों पर गिर पड़े, जिस वक्त चाचा ने मंजूरी दी। कहने लगे बाबू साहब मैं यह दूँगा, वह दूँगा। पर कानूनगो चाचा को तो आप जानते ही हैं। साफ कह दिया—"भाई मुझे तुम्हारा कुछ नहीं चाहिए जो देना हो अपनी लड़की और दामाद को देना। शादी क्या हुई, भैया की जिन्दगी लौट आई। आज पैंसठ बरस की उमर हो गई। भगवान की दया से नई भौजी के चार बच्चे भी हैं।"

खांसते हुए मुं० खुरशेद बहादुर बोले—"पचासों मिसालें इस तरह की पड़ी हैं। और हां बड़े बाबू! मेरे भैया के साले के दामाद को एक बहन है। बड़ी सुशील, बड़ी कामकाजी, बिलकुल गऊ! लड़की क्या है बिलकुल सोना है। और सब से बड़ी बात तो है कि स्कूल नहीं भेजी गई। उसे घर पर ही पढ़ाया गया है। रामायण पढ़ लेती है, चिट्ठी पत्री लिख लेती है थोड़ा बहुत 'ए बी सी डी' भी जानती है। आपके ही घर के

लायक है। ईश्वर ने चाहा तो सुधीर बाबू के दिन फ़िर लौट आएंगे।"

बड़े बाबू ने एक बार पास बैठे हुए अपने साथियों की ओर देखा, सामने जलती हुई चिता को देख कर एक ठंडी सांस ली और धीरे से पुकारा—"सुधीर ! बेटा सुधीर !"

पिता के ये शब्द, पता नहीं, सुधीर ने सुने या नहीं, परन्तु उत्तर के रूप में उसके कंठ से कोई भी स्वर न निकला। तभी चिता के रक्तिम प्रकाश में खड़े हुए उस काले अधनंगे व्यक्ति ने लकड़ों के कुछ मोटे कुन्दों को जोर लगा कर खिसकाते और पीटते हुए कहा—"चिता बुझ गई, मालिक '!'

उस सुनसान प्रदेश में अब तक के सारे तड़पते हुए शब्दों से भारी होकर यह शब्द सब के कानों से टकराया—सब एक साथ उठ खड़े हुए। सुधीर के हृदय पर इन शब्दों ने एक हथौड़े सी चोट की, वह किलमिला उठा। दबे हुए भर्राए कंठ से एक छटपटाती हुई चीख निकली—"बुझ गई !...बुझ गई !! इतनी जल्दी !!!........"

पिता ने समीप आकर उसका हाथ पकड़ कर उठाया। वह उठा। बवंडर में कांपता हुआ पीपल का एक सूखा पत्ता जैसे जमीन से ऊपर उठता हो। अवशिष्ट क्रियायें यंत्र की तरह उसने पूरी कीं। बुझी हुई चिता के चन्द दहकते हुए अंगारों को देखता हुआ श्मशान की उस अंधेरी राह पर चुपचाप सब के पीछे पीछे चलने लगा। काश! वह उन अंगारों को अपनी पलकों में छिपा सकता। उस सुनसान रात में सियारों की भयानक आवाजों के साथ मिल कर आदमियों के पदचाप का शब्द और भी भयानक मालूम हुआ उस निर्जन वन प्रान्त पार करने लगा। सुधीर के कानों में रह रह कर चिता के चैलों के चटखने की आवाज आ रही थी, चिता को लपटें उसकी आंखों में नाच रही थी। अचानक उसे एक तड़पती हुई चीख सुनाई पड़ी—वह ठिठक गया और एक झटके से घूम कर उस सुनसान अंधेरे, मौत की डरावनी आंखें फाड़े हुए डगर पर भागने लगा—श्मशान की ओर।

श्री गंगाप्रसाद पाण्डे

साहित्य की दुनिया में लेखक होना एक बात है और व्यक्तित्व होना एक दूसरी बात। पाण्डे जी हिन्दी साहित्य के एक व्यक्तित्व हैं, एक निराले व्यक्तित्व। कोकटी के कुर्ते और कोकटी के पाजामे में, लम्बे तड़ंगे, झूमते हुए चलना, यह बतलाता है कि व्यक्तित्व में मनमौजीपन फूट फूट कर भरा हुआ है। कलाकार के स्वाभिमान और व्यक्तित्व को सम्हालना और हर स्थिति में ऊँचा रखना, चाहे इसके लिए कितनी भी क़ीमत क्यों न देनी पड़े।

अपनी संस्कृति और हिन्दी साहित्य की आध्यात्मिक परम्परा के प्रति आप के मन में काफी मोह हैं। कभी कभी यह मोह सीमा को भी लांघ जाता है, लेकिन अगर सीमा बनी ही रह गई तो फिर पाण्डे जी का व्यक्तित्व ही क्या।

दिल का इतना साफ और स्वभाव का इतना प्यारा और ममता मय आदमी मिलना मुश्किल होगा। 'परिमल' की गोष्ठियों में पाण्डेजी के ठहाके और उनके वक्तव्य दोनों ही अपने ढंग की अकेली चीज़ें हैं।

आलोचना के क्षेत्र में कितना अधिक लिखा है, यह बतलाने की जरूरत नहीं। लेकिन अभी उनकी कहानियां और कविताएं बहुत कम सामने आई हैं। विंध्य प्रदेश के शिक्षा-अफसर पद पर आप को बुलाया गया था। कुछ दिन वह भार सम्हालने के बाद वहाँ के "दफ्तरी वातावरण" से ऊब कर चले आए।

प्रतिशोध

सत्य कभी-कभी कल्पना से भी विचित्र होता है, अन्यथा पंडित दीनानाथ की कठोर कहानी का ऐसा कोमल अन्त क्यों होता ? स्नेही गांव के इन सरल पण्डित को आधुनिकतावादी अकर्मण्य भले ही कहें, पर गाँव वाले उन्हें निष्काम आचरनिष्ठ ही मानते थे। वे कुछ नित्य और कुछ नैमित्तिक कर्मों के द्वारा अपने ब्राह्मणत्व के सूक्ष्म तत्व और शरीर के स्थूल तत्व की रक्षा करते थे।

घर के सामने लगे हुए पीपल के नीचे प्रतिष्ठित हनुमान जी की सिन्दूरिया मूर्ति के आगे 'हनुमान चालीसा' पढ़ना उनका नित्य का काम था। कभी रक्षा-सूत्र बाँधकर, कभी जनेऊ बाँट कर, किसी के यहाँ पूजा कराकर, किसी के यहाँ कथा बाँच कर वे शरीर-धर्म के पालन के साधन प्राप्त कर लेते थे। गाँव में उनका आदर भी असाधारण था। बढ़ई वर्ष में एक जोड़ा खड़ाऊँ बनाकर उन्हें जूता खरीदने से मुक्त कर जाता था। जुलाहा गजी का थान भेंट कर वस्त्र की समस्या सुलझाने में सहायता कर जाता था। तेली ताजा पेरा हुआ तेल दे जाता था। किसान कटाई के बाद थोड़-थोड़ा अन्न देकर भी एक ढेर लगा जाते थे। इस प्रकार सबसे एक न एक नई भेंट पाकर तथा घर के आस-पास की ज़मीन में शाक-भाजी बोकर पण्डित जी अपनी गृहस्थी के शकट को एक लीक पर

हांके जाते थे। उनका कच्चा घर लिपा-पुता और ऋतु के अनुसार लौकी कद्दू के लता-वितान से घिरा रहता था। एक गाय थी, जिससे पंचगव्य की सभी आवश्यकताएँ पूर्ण हो जाती थी।

इस आडम्बरहीन गृहस्थी के अनुरूप गृहणी भी थी। वह गाँव की दृष्टि में अतीव सुन्दरी और कर्त्तव्य-परायण भी थी। पण्डित जी में उसका जैसा अनुराग था वैसा ही विश्वास भी। इसी से उनकी वीतरागता के लिए उसने कभी उपालम्भ नहीं दिया। वे केवल एक कन्या से संतानवान थे, जो उत्तराधिकार में माता का सौंदर्य और पिता का दारिद्र्य लेकर पैदा हुई थी। कुछ तो अपनी वीतरागता के कारण और कुछ दरिद्रता के कारण पण्डित जी 'अष्टवर्षा भवेत् गौरी' के सम्बन्ध में मनु महाराज के आदेश का पालन न कर सके। कुलीन वर का मिलना वैसे भी कठिन था। दहेज की आशा के बिना कौन वर का पिता उन्हें कन्या रूपी विपत्ति से मुक्त करने के लिए आगे बढ़ता? आज-कल करते-करते दिन टलते गए और कन्या बड़ी होती गई। सयानी कन्या का विवाह न कर सकना एक दुर्भाग्य से कम नहीं, फिर गांव के ठाकुर की उस पर दृष्टि गड़ जाना तो मानों कोढ़ में खाज हो गया।

ठाकुर संसार देख चुके थे, पर नवीन अनुभवों की खोज की प्यास नहीं बुझ सकी थी। उनका पुत्र पिता की लालसा लेकर अभी संसार में प्रवेश ही कर रहा था, उसके सम्बन्ध में क्या कहा जावे? पंडित जी ठाकुर के पुरोहित थे। उन्हें यजमान के यहाँ पूजा-पाठ कराने या सत्यनारायण की कथा बाँचने जाना ही पड़ता था। कभी-कभी सीधा आदि लेने पण्डिताइन भी पहुँच जाती थीं। अब सहसा ठाकुर को अपनी किशोरी कन्या के लिये समवयस्का साथिन की आवश्यकता का अनुभव हुआ और वे पण्डित जी की कन्या को अपने यहाँ बुलाने लगे। जल में रहकर मगर से बैर करना पण्डित जी के लिए कठिन था। इसके अतिरिक्त निर्धनता का साथ प्रायः निर्बलता ही देती है। अन्त में उनकी कन्या जब तब ठाकुर कुमारी के पास जाने, बैठने, खेलने तथा सीने-पिरोने

लगी। ठाकुर और उनके सपूत में ऐसी प्रतिद्वन्द्विता थी कि उनमें प्रत्येक एक दूसरे के क्रिया-कलाप की ओर कड़ी निगरानी रखता था। इसे पण्डित जी और उनकी बालिका का सौभाग्य ही कहना चाहिए। पर गाँव में ठाकुर के चरित्र के सम्बन्ध में किसी को भ्रम नहीं था, क्योंकि उनमें अनेक स्वयं भुक्तभोगी थे। कुछ ही दिनों में पण्डित जी की कन्या लोगों की चर्चा का विषय बनने लगी। बात को तूल खींचते देख माता-पिता कन्या के भविष्य के लिये चिन्तित हो उठे। तब से उसका ठाकुर के घर जाना छूट गया। बुलावे पर बुलावे आने पर भी जब उन्होंने अपनी कन्या को नहीं भेजा तब उनके बहानों के भीतर छिपा हुआ सत्य प्रकट हुए बिना न रह सका। फलस्वरूप ठाकुर के मन में ऐसी गाँठ पड़ गई जो दिनोंदिन कठिन होती गई।

पंडित जी इस बार तन-मन से जमाई की खोज में लगे, पर इस चर्चा के उपरान्त सफलता और भी दुर्लभ हो गई थी। जो सम्बन्ध पक्का कर भी जाता घर लौटकर उसे अस्वीकार ही कर देता। इसी तरह कुछ दिन और बीत गए।

एक दिन पिता के श्राद्ध में ठाकुर स्वयं पुरोहित को निमन्त्रित कर गये। कुछ तो पिछला मनोमालिन्य दूर करने के लिए और कुछ कर्तव्य समझकर पण्डित जी दिनभर वहाँ काम करते रहे। रात में भोजन करके घर लौटते ही वे हैजे जैसे किसी व्याधि से ग्रस्त हो गए और सवेरा होते-होते परलोक सिधारे। आपत्ति की आकस्मिकता माँ-बेटी के लिये निरभ्र बज्रपात जैसी हो गई। वे इस आघात से इतनी अचेत और सहानुभूति के लिए इतनी आकुल हो उठीं कि ठाकुर के पुत्र के विशेष आने-जाने की ओर उनका ध्यान ही न जा सका।

प्रौढ़ावस्था के घाव जल्दी नहीं भरते, पर किशोरावस्था हर आघात का चिह्न मिटाती चलती है। पण्डित जी की बेटी कुछ ही समय में घर-गृहस्थी का काम काज संभालने लगी, पर पत्नी पति का शोक न भूल सकने के कारण संसार में कुछ विमुख सी रही। युवती कन्या के

विवाह की उसे चिन्ता नहीं थी, यह सच नहीं, पर जो काम पण्डित जी के जीवन में कठिन था वह उनकी मृत्यु के पश्चात् कैसे सहज हो सकता था ? उन अनाथ स्त्रियों की सहायता के लिए ठाकुर का पुत्र जब-तब आने लगा और पण्डिताइन उसे रोकने का साहस भी न कर सकीं। पर थोड़े ही दिनों में जब गाँव की भूली हुई कहानी याद आने लगी तब पंडिताइन मानों मूर्छा से जागीं। पहले तो पण्डित जी का जीवन उन दोनों के लिए ढाल बना हुआ था, पर अब तो लोकापवाद का सीधा लक्ष्य वे ही थीं। इस निन्दा की उपेक्षा उनका गाँव में रहना दूभर कर सकती थी, और उस कच्चे घर को छोड़कर उनके लिए संसार में कहीं ठौर नहीं था। सोच विचार कर पण्डिताइन ने ठाकुर के पुत्र को अपनी अरक्षित स्थिति समझाकर अपने घर आने से रोक देना उचित समझा।

कन्या अविवाहित होने पर भी अवस्था-सुलभ शृङ्गार-प्रियता से शून्य नहीं थी। कभी गाँव के मेले से और कभी समवयस्क साथिनों से उसे बहुत सी चीजें मिल जाती थीं। उसके पास कभी हरा रूमाल, कभी लाल फुदनेदार चुटीला और कभी कच्ची मोतियों की कंठी देखकर माँ सन्देह से भर जाती थीं। पूछने पर बिना हिचकिचाहट के वह सफ़ाई दे देती थी, पर न जाने क्यों, इस सफाई के उन्हें सन्तोष नहीं होता था। न सन्देह के लिये ही वह प्रमाण पाती थीं और न उनका मन विश्वास ही करना चाहता था। पति-शोक ने पण्डिताइन को बेटी की ओर से निर्मम भी कर दिया हो तो आश्चर्य नहीं। मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह सुख के दिनों में जिन्हें बहुत चाहता है दुख के दिनों में उन्हीं पर खीझता रहता है। पण्डिताइन इसका अपवाद नहीं थीं। एक तो दुर्दिन, दूसरे दरिद्रता और तीसरे सयानी कन्या के विवाह की चिन्ता। बेचारी माँ कभी अपने दुर्भाग्य को कोसती और कभी कन्या के अभाग्य को रोना रोती। इतनी साधों से प्रान और दुलार से पाली हुई इकलौती लड़की के लिए पण्डिताइन क्या नहीं कर सकती थीं ? पर उसका घर बसा देना मां की शक्ति

के बाहर की बात थी। उसकी विवशता ही झुँझलाहट के रूप में प्रकट होती रहती थी। कन्या की नीरव सहन-शक्ति से टकरा कर उसकी झुँझलाहट एक विचित्र निर्ममता में परिवर्तित हो जाती थी। इन दोनों के जीवन का यह बेसुरा सङ्गीत बहुत दिनों तक चलता रहा, पर अचानक एक तार ही टूट गया।

एक दिन कहीं से सीधा लेकर लौटते समय पण्डिताइन ने देखा कि कन्या गोबर पाथ रही है और ठाकुर का पुत्र उससे साग्रह कुछ कह रहा है। पण्डिताइन की त्योरियाँ देखकर ठाकुर का लड़का तो जैसे तैसे प्रणाम की रीति का पालन कर चलता बना, पर कन्या को मां के हृदय में उठी हुई आँधी का सारा वेग झेलना पड़ा। क्रोध के आवेश में उचित अनुचित का ज्ञान भूलकर पण्डिताइन कहती चली गईं कि उनकी कन्या कुलच्छनी और कुलटा है; उसने अपने साधु-स्वभाव पिता को खा लिया और अब पिता के शत्रुओं से मिली हुई है; अब वह माँ को भी खा लेगी तब संतोष की साँस लेगी; वह अभागी होते ही मर क्यों न गई? आज भी परमात्मा उसे मौत क्यों नहीं देते, जिससे वंश की की मर्यादा बच जाय? आदि-आदि।

कन्या की सहन-शक्ति इन प्रहारों से खण्ड खण्ड होकर बिखर गई। उसने बार-बार समझाना चाहा कि उसका कोई दोष नहीं है, उसने कोई बुरा काम या अपराध नहीं किया, पर पण्डिताइन के क्रोध के झंझावात में उसके सारे शब्द सूखे पत्तों की भांति उड़ गए। क्रोधाँध व्यक्ति कोई प्रतिवाद नहीं सुनना चाहता। रात में दोनों बिना खाये-पिये पड़ रहीं। क्रोध के उपरान्त स्वाभाविक अवसन्नता से मां मूर्छित सी हो गई, पर लड़की के हृदय में माँ के अकारण क्रोध ने मानों अंगारा रख दिया था। उसकी आँखों में नींद कहाँ? जब सब ओर सन्नाटा छा गया तब उसने हौले से द्वार खोला और आँगन में काली स्याही के बड़े धब्बे के समान लगने वाले कुएँ में कूद पड़ी। धमाका सुनकर पण्डिताइन आँखें मींचती हुई उठ बैठीं। दिया जलाया, लड़की का बिछौना खाली

देखकर बाहर आईं और मामला समझते ही सहायता के लिए चिल्ला पड़ीं। पड़ोसी आ गए और कुएँ में रस्सी डाली गई, पर कुछ फल न हुआ। एक आदमी कुएँ में घुसा। अन्त में कन्या का शव ही बाहर लाया जा सका। झिलमिलाते दीपक के प्रकाश में आँगन की गीली धरती पर भीगी लटों और गीले वस्त्रों के साथ निश्चेष्ट पड़ी हुई वह सुन्दर स्वस्थ देह मानों माँ की मृत्यु-याचना का कठोर वरदान थी, लोकापवाद का संक्षिप्त उत्तर थी, वासना-लोलुपों के प्रति मूक अभियोग थी और समाज के अन्याय के विरुद्ध साकार नीरव पुकार थी।

इसके बाद पण्डिताइन को किसी ने घर के बाहर नहीं देखा। वह घर के अँधेरे कोने में चुपचाप पड़ी रहती थी। तीन दिन तक गाय खूँटे में बँधी रंभाती रही। तब पड़ोसी उसके चराने, बाँधने तथा खोलने का प्रबन्ध करने लगे। कई दिन निराहार पड़े रहने पर कुछ सहृदय उनके भोजन की चिन्ता भी रखने लगे। इच्छा होने पर पण्डिताइन कुछ खा लेती थीं, अन्यथा भोजन भी वैसा ही पड़ा रहता था।

ठाकुर परिवार ने इस पति-संतान-हीना की कुछ सहायता भी करनी चाही, पर उसने न उनकी ओर आँख उठाकर देखा और न उनसे मिली हुई किसी वस्तु को छुआ। जिनकी वासना ने उसकी गृहस्थी की बलि ले ली थी उनसे किसी प्रकार का सम्बन्ध यदि हो सकता था तो वह द्वेष का ही होता। पण्डिताइन ने अपनी व्यथा के क्षणों में प्रतिशोध के कितने स्वप्न देखे, कितनी कल्पनाएँ कीं, कितने संकल्प बनाये-मिटाये, इसका पता लगाना कठिन था। पर उस परिवार के नाम मात्र से जल उठने वाली उसकी धुँधली दृष्टि उसके हृदय में निरन्तर सुलगने वाली अग्नि का पता देती थी।

इसी समय एक घटना घटी। ठाकुर की कन्या ब्राह्मण बालिका से कम सुन्दरी नहीं थी, और ठाकुर के राजा साहब उनसे कम विलासी नहीं थे। राजा साहब उन व्यक्तियों में थे जो अपने-आपको अधीनस्थ व्यक्तियों के सर्वस्व का अधिकारी समझते हैं और इस 'सर्वस्व' के

अन्तर्गत उनका जीवन और धन ही नहीं, उनकी पत्नी, बहिन और कन्या आदि का सौंदर्य भी रहता है ! जब राजा साहब ने ठाकुर के घर अतिथि होने की इच्छा प्रकट की तब वे सन्नाटे में आ गये । उनके अतिथि होने का तात्पर्य किसी से छिपा नहीं था, उस पर ठाकुर से अपना अभिप्राय छिपाने की उन्होंने कोई आवश्यकता ही नहीं समझी । अपने गाँव की प्रजा के साथ ठाकुर न जाने कितनी बार यही व्यवहार कर चुके थे और राजा ने उन्हें दंड न देकर उल्टे फरियाद करने वालों पर जुर्माना किया था। वस्तुतः ठाकुर राजा के उपकारों से इतने दबे थे कि उनकीइच्छा का प्रतिवाद करने की कृतघ्नता उनसे सम्भव नहीं थी । उन्होंने इधर-उधर करके बहाना बनाया कि उस घर में वे और उनकी ठकुराइन ही हैं और कन्या मामा के घर गई है । पर राजा साहब भी कच्चे खिलाड़ी नहीं थे । अचानक एक दिन ठाकुर को समाचार मिला कि राजा साहब गाँव की सीमा तक पहुँच गए हैं । सम्भवतः वे इस प्रकार पहुँच कर ठाकुर के सत्य की परीक्षा लेना चाहते थे ।

ठाकुर के पुरखे तो आन पर लड़ मर सकते थे, पर उनमें न पूर्वजों का चरित्रबल था न आत्मबल । धन की लिप्सा भी उन्हें बुरी तरह घेरे हुए थी । राजा प्रसन्न होने पर बहुत कुछ दे सकते थे और अप्रसन्न हो कर सब कुछ छीन सकते थे । पर लोभी और विलासी पिता भी अपनी निर्दोष, सुन्दर कन्या को दूसरे की वासना का ईंधन नहीं बनना चाहता । यह सत्य है कि उसने दूसरे की सुन्दर कन्याओं को अपनी वासना की तृप्ति के लिए बलिपशु बनाया था, पर आज अपनी संतान पर उसी आपत्ति को मँडराते देखकर वह अत्यन्त कातर हो उठा । किसी के घर कन्या को छिपा देने से उसकी रक्षा हो सकती थी पर गाँव वाले ठाकुर के आचरण से इतने असन्तुष्ट थे कि उसकी मानहानि देखकर प्रसन्न होने को तैयार थे । ऐसी दशा में उनका विश्वास करना कठिन था । अब केवल पुरोहित का घर बच जाता था जिसमें अकेली दुखिया पण्डिताइन रहती थी । उस शोक-विजड़ित, अर्द्ध-विक्षिप्त ब्राह्मणी

के निकट अब कोई नहीं जाता था, इसी से ठाकुर की कन्या वहाँ और भी सुरक्षित रह सकती थी। पर उसके निकट यह प्रस्ताव लेकर जाय कौन? ठाकुर को राजा साहब की अगवानी के लिए जाना था। निरुपाय पुत्र के साथ वहाँ स्वयं ठकुराइन कन्या को ब्राह्मणी के पास छिपाने के लिए लेकर चली। अंधकार में छिपते छिपते वे पण्डिताइन के घर पहुँचे और टिमटिमाते हुए दीपक के प्रकाश में निस्तब्ध बैठी हुई अनाथा के सामने खड़े हुए। उसने अर्थहीन शून्य दृष्टि से उन्हें देखा, पर अभ्यागतों के सम्बन्ध कुछ जानने की उत्सुकता नहीं प्रकट की। ठाकुर के पुत्र ने रुकते-रुकते धीरे से अपने आने का कारण कह सुनाया।

पण्डिताइन की भ्रकुटियाँ वक्र हो गईं, उसकी सूखी आँखें जल उठीं, और ओठों के कोनों में क्रूर व्यङ्गपूर्ण मुसकान फूट पड़ी। कठोर और रूखे स्वर में उसने जो उत्तर दिया उसका आशय था कि भगवान के यहाँ देर होती है, अँधेर नहीं; उन्होंने दया कर स्वयं ठाकुर से बदला चुकाने का प्रबन्ध कर दिया है। अब वे लोग अपनी करनी का फल भोगें। ठकुराइन ने ब्राह्मणी के पैर छूकर संकोच से कहा कि वह अपने पति-पुत्र के व्यवहार के लिए बहुत लज्जित है, पर क्या पण्डिताइन उसके लिए अपनी एक बहन को दण्ड देगी? पण्डिताइन के सूखे नेत्रों से झलकने वाली कठोरता कुछ तरल हुई, पर वह कन्या को छिपाने के लिए राज़ी नहीं हुई। जिसके पति-पुत्र के लिए उसको अपने पति और कन्या को खोना पड़ा है उसके साथ उपकार करके राजा को अप्रसन्न करने की उसकी इच्छा नहीं थी। उसने कहा कि यदि वे लोग शीघ्र उसके घर से बाहर न जावेंगे तो वह स्वयं जाकर राजा को उनके छिपने की सूचना दे आवेगी।

अब तक ठाकुर की कन्या माँ के पीछे खड़ी, चकित दृष्टि से उन दोनों को देख रही थी, पर अब वह अपने को न रोक सकी। गिड़गिड़ाती हुई बोली—"पण्डिताइन काकी, मैंने क्या बिगाड़ा है? मैं, और

तुम्हारी लड़की तो साथ साथ खेले हैं। मेरे लिए जैसी अम्मा वैसो तुम। क्या तुम मुझे अपनी लड़की के समान नहीं मानती रहीं? आज तुम न बचाओगी तो मेरा क्या हाल होगा? सुना है, राजा शराब पीता है, बात-बात पर तलवार निकाल लेता है। मुझे बचाओ, पण्डिताइन काकी!" कहती हुई बालिका रो पड़ी और पण्डिताइन से चिमट गई। और तब पण्डिताइन की उन्माद-विषाद भरी दृष्टि उस पर पहली बार ठहरी। वही सरल आँखें, वही निर्दोष मुख और वैसा ही पवित्र अबोध सौन्दर्य! सचमुच क्या यह उसी की लड़की नहीं है? उसे वह नहीं बचा सकी तो क्या इसका भी वही अन्त होने देगी?

पण्डिताइन की कठोर दृष्टि में न जाने कहाँ से वात्सल्य की कोमलता झलकने लगी। प्रतिशोध द्वेष, और क्षोभ की वज्र-शिलाओं का बंधन तोड़कर उसके नेत्रों की गंगा-यमुना फूट निकली। उसने लड़की को हृदय से लगा लिया। "मेरे रहते कौन तेरा बाल बाँका कर सकता है, बिटिया! एक नहीं चाहे सौ राजा आ जायँ!" कहती हुई वह लड़की के झुके मस्तक पर आँसुओं से ममता की अजस्र वर्षा करने लगी। उस हत-सर्वस्व और प्रतिशोध की भावना से दग्धनारी की मातृत्व-गरिमा के विस्तृत दर्शक कब द्वार बन्द करते हुए चुपचाप लौट गए इसे वे दोनों मां-बेटी न जान सकीं।
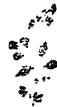
श्री धर्मवीर भारती

साहित्यिक भीड़भाड़, प्रदर्शन और सभा-सोसाइटियों से ज़रा दूर; प्रकाशन से ज्यादा अध्ययन से प्यार। स्वभाव कुछ ऐसा कि 'परिमल' ही एक मात्र ऐसी संस्था है जिसमें खुलकर साँस लेने का मौका मिला, इसलिये तबियत रम गई।

पिछले चार साल से लिखना शुरू किया। कविता, कहानी, एकांकी और उपन्यास और आलोचना और न जाने क्या क्या। हिन्दी विभाग में रिसर्च अलग से। लेकिन बातचीत करने में देखने सुनने में कुछ और ही लगते हैं, लेखक तो नहीं ही।

भारती की कहानियों के विषय में भी ऐसा ही भ्रम हो जाता है। पाठक उसकी शैली की पच्चीकारी के कारण इन्द्रधनुष के रंग विरंगे आकार में, मधुमास की लहराती सांझ से घिरी कजरारी आँखों की पलकों से छनती हुई रेशमी निगाहों में, यह तन्वंगी कृष्णा कुन्ताला मुग्धा की नागिन सी लहरें लेती वेणी में ही उलझ कर रह जाते हैं। नारी और पुरुष के चिरन्तन सघर्ष की ओर पाठक का ध्यान ही नहीं जाता। यह संघर्ष इस कहानी में तो और भी निखर आया है।

दूसरी तरह की कहानियाँ भी हैं, बिल्कुल यथार्थ 'मुर्दों का गाँव' और 'भूखा ईश्वर' सरीखी। प्रस्तुत कहानी की पृष्ठभूमि वैष्णव सम्प्रदाय का वह विकास युग है जब राधा की प्रतिष्ठा वैष्णव सम्प्रदाय में नहीं हुई थी। कैसे एक नारी का प्रणय ईश्वर के जीवन में भी इतना गहरा स्थान बना पाया, उसके पीछे न जाने किस अज्ञात कलाकार की चिरविरहिणी प्रेयसी की उसासें थीं, यही इस कहानी का मूल सूत्र है!

पूजा

वह आंसुओं और चुम्बनों से बुनी हुई जलपरी की तरह सुकुमार थी। उसकी कजरारी आंखों में मधुमास की शामें लहराती थीं और उसकी केसरिया उसासें ऐसी अरसौहीं अंगड़ाइयां लेती थीं जैसे पुरवैया नीले सावन की बूंदों से घायल हो जाय। लजवन्ती तरुणाई बचपन के पङ्खों में इस तरह ढुबकी थी जैसे अंगूरी पङ्खों में सलोनी सुनहली धूप ढंकी हो। उसके अङ्ग अङ्ग में शैशव के सपने टूट रहे थे और धीरे धीरे उसकी वह अधखिली उमर आ गयी थी जब जवानी अपनी ही छांह देखकर लजाने लगती है।

भागवतों के विशाल मन्दिर के आचार्य के पास वह रहती थी। उसका विधुर पिता सात्वत् क्षत्रिय था और मरने के पहले अपनी अतुल सम्पत्ति से यह मन्दिर बनवाकर उसे भी पुरोहित के पास धरोहर रूप में छोड़ गया था। वैष्णव अभिरुचि के अनुसार उसका नाम था—पूजा।

उनींदे गीतों और अधजगे फूलों की गोद में पल कर पूजा इतनी बड़ी हुई थी! उसकी जिन्दगी की कली की महज पन्द्रह पङ्खरियां खिल पायी थीं मगर केसरिया जवानी उन्हीं में से फटी पड़ती थी।

आज शरदपूनो थी। मन्दिर में पूजा का अनुष्ठान हो रहा था। आंगन में नीलकमल की पंखुरियों से जमुना की लहरें बनायी गयी थीं

जिनमें श्वेत पंखुरियों के हंसों की एक पांत तैर रही थी। द्वार पर मल्लिका की वन्दनवार थी और सोपानों पर कामिनी के पाँवड़े। आँगन में जूही के हारों की जाली तनी थी जिससे छन छनकर चांदनी बरस रही थी।

सहसा गङ्गाजल पर बहते हुए गुलाब की तरह आंचल से अलकों में उलझी हुई चांदनी पोंछते हुए पूजा ने प्रवेश किया मन्दिर की सारी चहलपहल शान्त हो गयी। देवता के मुकुट में लगने वाली कलियों पर चम्पे के पराग का छींटा देते हुए आचार्य भी रुक गये और उन्होंने उत्सुक निगाहों से पूजा की ओर देखा। वह कहीं जाने के लिए तैयार थी। फर्श पर बिछी कलियाँ उसके पैरों के महावर से रंग गयी थीं। हथेलियों से फूट पड़नेवाली अभी अभी धुली हुई मेंहदी की झलक ऐसी लगती थी जैसे उसने मूंठियों में रूप की रतनारी लपटें कैद कर रखी हों।

'कहां चलीं बेटी?'—आचार्य ने बड़े स्नेह से पूछा।

पूजा ने मुड़कर अपनी सखी की ओर देखा, मुसकुरायी, फिर आधे मचलते हुए स्वरों में कहा—'कहीं नहीं, ये कुंकुम नौकाविहार के लिए जिद कर रही है। वैसे मैं तो सोचती थी आरती के बाद जाऊँ।'

आचार्य हँसे—'मैं समझता हूँ तेरी इच्छा। आरती से तुझे क्या मतलब? तबीयत तो अपनी है नाम उसका लगाती है। जा!'

'चल कुंकुम'—पूजा ने कहा और फूलों के ढेर से एक कमल ढूंढ़ने लगी।

आचार्य ने मुड़कर भागवत प्रतिमा की ओर देखा और बोले—'पूजा बेटी को मेरे देवता से प्रेम नहीं है। अभी नादान है! तुम नाराज मत होना गोपाल! तुम्हारे अनन्य भक्त की थाती है।' फिर जैसे कुछ सोचकर कहने लगे, गहरी सांस लेकर—'एक पाख और है। अगली अमावस्या को उसके भी भाग्य का निबटारा हो जायगा।'

पूजा ने कमल ढूंढ़ लिया था और उसे कुंकुम की वेणी में गूंथ रही थी कि अन्तिम तथ्य पर उसका ध्यान आकर्षित हो गया।

'क्या कहा बाबा तुमने ?'

'कुछ नहीं ! अभी गयी नहीं तू ?'

'नहीं बाबा !' वह रेशमी दीपशिखा की तरह मचलकर बोली— 'कैसा निर्णय ? नहीं बताओगे ? तो नहीं जाऊँगी मैं। जा कुंकुम तू !'

'ओह रूठ मत पगली। तेरे पिता एक मंजूषा मुझे सौंप गये हैं। जिसमें तेरे लिए कुछ आदेश है जो तब खुलेगी जब तू अगली अमावस्या को सोलह वर्ष की हो जायगी। और फिर मुझे भी तेरी ममता से छुटकारा मिल जायगा। हे भगवान् !'—एक लम्बी सांस लेकर उत्तरीय के कोने से अपनी बूढ़ी पलकों से आंसू पोंछते हुए आचार्य ने कहा।

पूजा कुछ लजा गयी। फिर मुंह बनाकर बोली—'हूं ऐसी ही तो भारी लगने लगी हूँ तुम्हें मैं !'—और भाग गयी।

लेकिन रात भर उसके दिल में गुदगुदी मचती रही। एक विचित्र सी उत्सुकता उसके प्राणों को झकझोरने लगी। अगले पाख में वह सोलह साल की हो जायगी और फिर जाने कौन सा रहस्यात्मक आदेश मिलेगा उसे। वह उन लड़कियों में से थी जिन्हें कल्पना, रहस्य और अभावों से प्रेम होता है। जो कुछ उनके जीवन में है उसकी उपेक्षा और जो नहीं है, चाहे वह कैसा हो, कुछ हो, उसके लिए बेहद प्यास। उसे पिता की याद नहीं थी अतः वे रहस्य थे, अतः उसे प्यारे थे। वह देवता की छाया में पलकर बड़ी हुई थी, अतः स्वभावतया देवता के प्रति उसके मन में अवहेलना थी। जो उसके जीवन का यथार्थ था वह उसके लिए उपेक्षणीय था। जो कुछ उसके लिए दुष्प्राप्य था उसी पर उसकी कल्पना आसक्त हो जाती थी। इसलिए रात को वह बहुत देर तक अपनी सोलहवीं वर्षगांठ के सपने बुनती रही।

सुबह जब कुंकुम आयी तब भी बैठी थी अस्तव्यस्त सी। जब कुंकुम ने उसके मस्तक पर हंस के पङ्ख की तूली से बेंदी पूरना शुरू किया तो

उसने पूछा—'क्या बनायेगी आज ?'

'नील कमल !'

'न एक किरन मंजूषा बना जिसमें अमावस बन्द हो।'

'ओहो'—कुंकुम चुटकी लेकर बोली—'कोई कलाकार ढूंढ़ना इसके लिए। अमावस के बाद।'

'सुन तो' सहसा बात काटकर, आग्रहभरी मुद्रा से सर से पैर तक कुतूहल बनकर पूजा बोली—'अच्छा कुंकुम, क्या होगा उस मंजूषा में ? क्यों री ?'

'तुम्हारा भाग्य !'

'नहीं सच बता !'

'तुम्हारा भविष्य !'

'उँह, तू तो बात टालती है !' शोखी से कुंकुम के वक्ष पर बँधे मृणाल को कसते हुए पूजा बोली !

'आचार्य हैं ?'—किसी ने द्वार पर से पूछा।

झट से कुंकुम ने अपना आंचल सम्हाला।

द्वार पर एक युवक था जिसके वेश और रूप से लापरवाही टपकती थी। सवाल में लापरवाही थी और ऐसा लगता था जैसे वह उत्तर के प्रति भी लापरवाह रहेगा। बड़े बड़े उलझे बाल जो घुँघराले होते होते रह गये थे। कृश लेकिन प्रदीप्त चेहरा, जिसकी रेखाओं में भावनाओं का चढ़ाव-उतार था। उसका सारा व्यक्तित्व ऐसा था जैसे किसी कच्चे बादल की साँवली छाँह।

'नहीं हैं आचार्य ?'—उसने प्रश्न दोहराया।

'जी नहीं'—कुंकुम बोली—'आपको क्या काम है ?'

'मुझे संगमरमर के टुकड़े चाहिए।'

'उन्हीं के आने पर मिल सकेंगे !'

'मुझे संगमरमर के टुकड़े चाहिए। तुम चुप क्यों हो ?'—उसने कुंकुम की अवहेलना करते हुए कुछ अधिकार और कुछ तीखेपन के स्वर में पूजा से कहा।

'तो मैं क्या करूँ ?' थोड़ी नाराजगी और थोड़ी शोखी के स्वरों में पूजा ने कहा—'कोई मैं संगमरमर का टुकड़ा थोड़े ही हूँ !'

'खैर, खुशी है तुम्हें अपने बारे में असलियत मालूम है। वरना ज्यादातर लड़कियां तो अपने को यही समझने के भ्रम में रहती हैं।'

इस उत्तर पर पूजा का चेहरा कानों तक लाल हो गया। गुस्से से या शरम से यह नहीं मालूम।

युवक क्षण भर खड़ा रहा फिर बोला—'उनसे कह देना कि पत्थर जल्दी भेज दें वरना मूर्तियां न बन पायेंगी।'

और वह चला गया।

कुंकुम क्षणभर चुप रही—फिर ओंठ काटते हुए बोली—'कौन है यह ?'

'यह आचार्य के सब से मेधावी शिष्य हैं। मूर्तिशिल्प सीखने गांधार गये थे। अब वापस आये हैं। मन्दिर में नये प्रकोष्ठों का शृङ्गार कर रहे हैं !'

'हूँ, नाम क्या है इसका ?'

'नाम तो किसी को नहीं मालूम। हां, आचार्य इनकी प्रतिभा देख-कर इन्हें नक्षत्र कहते हैं !'

'क्या कहते हैं ?'

'नक्षत्र !'

'नक्षत्र ! ओह, व्यक्ति की अपेक्षा तो नाम कहीं ज्यादा अच्छा है।'

'पत्थर अच्छा है ! शिल्पी हैं ये ?'—और अपने पतले मूंगिया होंठ बिचकाकर पूजा बोली—'इन कलाकारों से तो मैं नफरत करती हूँ !'—और कहते कहते नफरत का ऐसा भावनाट्य किया कि कुंकुम खिलखिलाकर हंस पड़ी और बोली—'मगर बड़ी प्यारी है तुम्हारी नफरत !'

पूजा इस हंसी पर चिढ़ गयी।

और इसीलिए दूसरे दिन सायंकाल को जब आचार्य ने कहा—

'पूजा बेटी, जरा ये चित्र तो दे आना नक्षत्र को ?'—तो पूजा ने फौरन कहा—'मैं नहीं जाती वहाँ !'

'जा बेटी, देवता का काम है । वह बेचारा दिन रात लगा है बिना प्रति दिन एक मूर्ति सजाये प्रसाद नहीं लेता । जा !'

पूजा ने चित्र ले लिया और चल दी, एक ऐसी रंगीन अनिच्छा से जिसके मूल में न जाने कितनी तीखी इच्छा थी ।

वह गयी और कक्ष का पर्दा हटाकर भीतर झांका । एक चन्दन पीठिका पर बैठा हुआ कलाकार नक्षत्र एक पत्थर पर किसी मूर्ति की रेखाएं तराश रहा था । वह भीतर गयी । मगर वह तल्लीन रहा अपने कार्य में । वह क्षणभर खड़ी रही । नक्षत्र ने उसे तीखी और रहस्यमयी निगाहों से देखा और फिर अपने कार्य में लग गया । मगर सचमुच उस निगाह में जाने कैसा नीला जादू था कि वह टूटे हुए नक्षत्र की तरह उसकी पसलियों में पैठ गयी । जाने क्यों एक सिहरन उसे झकझोर गयी । उस समय उसे लगा जैसे उसके चारो ओर दीवारें नहीं हैं, और वह देश और काल की अनन्तता में, शून्य की पृष्ठभूमि में, जहां चांद नहीं है, सूरज नहीं है आकाश भी नहीं है—वहां किसी सपने की साँझ में अकेली खड़ी है, किसी हलके नीले नक्षत्र के सहारे ! एक अनोखी बर्फानी शीतलता उसके प्राणों में भर गयी और लगा जैसे वह घुट जायगी......और इसीलिए घबड़ाकर वह बोल उठी—'यह चित्र...यह भी कहां की शिष्टता है ? कला में इतना खोना भी क्या ? इसीलिए तो मैं कला से नफरत करती हूँ ।'

'धन्यवाद !—नक्षत्र मुस्कुराया—मगर अपनी यह श्रद्धांजलियां बिना मांगे ही क्यों बिखेरती रहती हैं आप ?'

उसके बाद हाथ के प्रस्तर खण्ड को पास रख कर वह बोला—'हां अब कहिए । आप कला से नफरत करती हैं ? मैं बहुत कृतज्ञ हूँ । आज पहला व्यक्ति मिला मुझे कम से कम जिससे मेरा भावसाम्य हो ।—' उसके हाथ से चित्र लेते हुए नक्षत्र ने कहा ।

'भावसाम्य हो ?'

'हां पूजा, मैं भी कला से नफरत करता हूँ। कल्पना से नफरत करता हूँ। सच तो यह है मैं हर चीज से नफरत करता हूँ जिसमें भावना का कोई भी स्थान हो। और कला भी उनमें एक है।'

'और फिर भी आप इतने उत्कृष्ट कलाकार हैं ?'

'हां यही मेरे जीवन का अन्तर्विरोध है। क्यों, यह मैं नहीं समझ पाता। जो मेरी व्यक्तिगत धारणाएँ हैं वह कला में उतर नहीं पातीं; जो मेरी कला की रेखाएँ हैं जिन्दगी उन पर चल नहीं पाती। मेरी कला मेरे व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं है—अन्तःसंघर्ष है। मेरे व्यक्तित्व और कला दोनों को आपस में लड़ना पड़ा है। दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं।'

'लेकिन तुम्हारी कला तो बहुत सुन्दर है।'

'मेरा व्यक्तित्व उसी का उल्टा। मेरे साथी कहते हैं तुम्हारी कला जितनी स्पष्ट और सुकुमार है, व्यक्तित्व उतना ही उलझा और क्रूर।'

'मुझे तो तुम्हारी कला की अपेक्षा तुम्हारा व्यक्तित्व अधिक आकर्षक लगता है'—लाज से सकुचकर बहुत धीमें से पूजा बोली !

'क्या'—नक्षत्र सुन नहीं पाया !

'कुछ नहीं'—उसने जल्दी से कहा और लजाकर पास रखे हुए कमल की पंखुरियां गिनने लगी।

'खैर कुछ हो ! मुझे खुशी हुई कि कम से कम एक व्यक्ति मिला जो किसी तरह भावनाओं से नफ़रत करता है। लेकिन सच कह रही हो तुम ?'

'क्यों, झूठ क्यों बोलूंगी मैं !'

नहीं, यह बात नहीं है। बात यह है कि देवताओं ने पुरुष को वाणी इसलिए दी है कि वह अपनी भावनाओं को प्रकट करे, और स्त्री को

वाणी इसलिए दी है कि वह अपनी भावनाओं को साफ साफ छिपा जाय।'

'तुम बड़े खराब हो'—वह कह उठी फिर अपने ही साहस पर लजा कर उठकर भाग गयी।

दूसरे दिन पूजा आयी, जब चिड़ियां पङ्ख खोले विहान की धूप में नहा रही थीं। नक्षत्र कल की तराशी मूर्ति को कमलपत्र में लपेट रहा था। बिना मुड़कर देखे ही उसने पूछा—'कोई चित्र ?'

'नहीं, क्या कलाकारों के कक्ष में चित्र लेकर ही आ सकती हूँ व्यक्तित्व लेकर नहीं।'

उत्तर पर नक्षत्र चौंक उठा। मूर्ति एक ओर रख दी और पूजा की ओर देखा।

विचित्र-सा वेश था उसका। कानों में शिरीष कलिकाओं के कुण्डल थे और कलाइयों में मृणाल के कंगन। जाने कैसी लगती थी वह! फूल के पङ्खों वाली गौरैया की तरह शैशव के प्रकाश में लिपटी हुई मगर तरुणाई की धूप में पङ्ख डुबोने के लिए आतुर! बाल खुले थे जैसे बादलों की तहें खुल गयी हों। लेकिन वे काले भौंराले नहीं थे, एक हलका सुनहलापन था उनमें जैसे काली तितली के पङ्खों पर पराग की धूल।

नक्षत्र ने देखा और बोला—'इस समय तो तुम स्वयम् चित्र हो व्यक्तित्व नहीं ?'

'चली जाऊँगी फिर मैं !'

'अच्छा नहीं, देखो यह मूर्ति कैसी बनी है ?'

पूजा क्षणभर ध्यान से उसे देखती रही फिर बोली—'यह मूर्ति उतनी ही खराब है जितना अच्छा तुम्हारा व्यक्तित्व। ओह उलटा कह गयी मैं क्षमा करना।'

नक्षत्र मुसकुरा पड़ा—कैसी लहरिया शरारत थी उसकी बातों में। पास के वातायन से झरती हुई दो चार किरनें उसकी अलकों में उलझ

गयी थीं। नक्षत्र के प्राण न जाने क्यों व्याकुल से हो उठे। उसे लगा काश वह एक रेशमी चुम्बन होता जो हवा की लहरों पर तैरता कभी चुपके से उसके ओठों पर बैठ जाता, क्षणभर उसकी सांसों में पङ्ख सुखा कर फिर उड़ जाता। जाने कैसे नशे में डूब गये थे उसके प्राण कि वह फिर सम्हल गया और नशीले स्वरों में बोला—'तुम सचमुच संगमरमर का टुकड़ा हो!'

'तो मुझे भी तराशकर कला की मूर्ति बनाने का इरादा है क्या?'

'हूँ, पहले देवताओं की मूर्तियां बनाने से अवकाश तो मिले।'

पूजा क्षणभर चुप रही। फिर पास आकर बैठ गयी और बोली 'एक बात पूछूं बताओगे?'

नक्षत्र ने केवल आंखों से पूछा—'क्या?'

'क्या तुम्हारी कला में केवल देवता को स्थान है, नारी का कोई भी स्थान नहीं।'

'नक्षत्र प्रश्न पर चौंक उठा। बड़ा अप्रत्याशित प्रश्न था और बड़ा ही बेमौका। वह उलझ सा गया।

'अच्छा जाने दो। तुम्हारी कला तुम्हारे देवता की साधना है न? तो यह बताओ तुम्हारे देवता के जीवन में नारी का कोई स्थान है या नहीं?'

नक्षत्र तब तक सुलझ गया था—'ठहरो! मैं तुम्हारे दोनों प्रश्नों का उत्तर देता हूँ। वैष्णवों का देवता है क्या? पत्थर की मूरत नहीं। वह है प्रेम की समष्टि का प्रतीक। व्यक्तित्व से ऊपर उठकर एक सर्वव्यापी भावना, प्रेम की। उसके जीवन में नारी के स्थान का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। हां नारी के जीवन में प्रेमका स्थान है, महत्त्व है। नारी की आत्मा में प्रेम उछलता फैलता है अगर प्रेम की आत्मा में नारी का प्रवेश......!'

मलिनता फैलाता है क्यों? बात काटकर पूजा बोली—'हूँ, अच्छी धारणाएँ हैं तुम्हारी। अच्छा वैष्णव देवता के जीवन में यह हुआ, अब

वैष्णव कलाकार के जीवन में नारी का क्या स्थान है ?'

'वैष्णव कलाकार के जीवन में नारी का स्थान विचित्र सा है। वह अपने जीवन में आये हुए हर प्यार को देवता के चरणों पर चढ़ा देता है। नारी उसके लिए महज एक दीप है जिसे वह आरती की तरह अपने देवता के चारों ओर बुन देता है। वह एक पूजा फूल है जिसे वह देवता को अर्पित कर देता है।'

पूजा खड़ी हो गयी। बड़ी गम्भीर वाणी में उसने कहा—'नक्षत्र, तुमने यह धारणाएँ सोचकर, दर्शन पढ़कर, अध्ययन करके बनायी हैं। मगर अब भी तुम जीवन का रहस्य नहीं पा सके हो। मैंने केवल किसी की सांसों में घुलकर जो रहस्य पाया है वह कहीं ज्यादा महान् है। मैं व्यक्तित्व से परे किसी देवता को नहीं मानती। हां, यह मानती हूँ कोई व्यक्ति ही किसी का देवता हो सकता है।'

नक्षत्र ने कुछ कहना चाहा मगर पूजा रुकी नहीं—'मैं जो कुछ कह रही हूँ वह शायद मन से नहीं, प्राणों से नहीं शायद आत्मा से कह रही हूँ। नक्षत्र, देवता की पूजा यह नहीं है कि उसके चरणों पर सब कुछ चढ़ा कर निश्चेष्ट बने रहो। उसकी पूजा का अर्थ स्वयम् देवता बन जाना है।'

'पूजा'...उद्विग्न स्वरों में नक्षत्र ने कहना चाहा।

पूजा रुकी नहीं—'और नक्षत्र, याद रखो किसी को देवता बनाने वाली नारी होती है। अपने आँसू के फूल किसी के चरणों पर चढ़ाकर उसे देवत्व की ऊँचाई तक पहुँचा देती है। पुरुष पूजा स्वीकार करता है, देवता बनता है। नारी आँसू दान करती है देवता बनाती है। तुम्हारे इस देवता के जीवन में नारी का कोई स्थान नहीं है? गलत। तुम अपने कृष्ण के युद्ध की गाथायें गाते हो। सुदूर ग्रामों से आने वाली आभीर कन्याएँ कृष्ण के प्रणय और रास के गीत गाती हैं। उनसे पूछना है मुझे कि कौन सी वह विशेष गोपी है जिसने अपनी एकान्त आराधना से शिशु गोपाल को भगवान् बना दिया था। मगर अब तो कृष्ण भगवान् बन ही गये।

अब उस आराधिका से किसी को क्या मतलब ! उसे भूलना ही ठीक समझा लोगों ने। लेकिन नक्षत्र, तुम कलाकार हो, तुम्हीं अगले आचार्य होने वाले हो अगर अभी तक तुम लोग देवता के जीवन में नारी का स्थान भूले रहे हो तो अब उसे स्थापित करो। तुम्हें अपने देवता के जीवन में उस अज्ञातनामा राधिका को स्थापित करना ही होगा। उसके बिना तुम्हारा देवता अपूर्ण रहेगा, और तुम भी अपूर्ण रहोगे। समझे !'

इतना कहते कहते वह हांफने सी लगी और फिर पागलों की तरह भागी।

'पूजा !'—नक्षत्र ने पुकारा मगर वह रुकीं नहीं।

कुछ देर तक नक्षत्र अपने कक्ष में बेचैनी से टहलता रहा। मन्दिर के बाहर अमीरों का एक दल गीत गाता हुआ जा रहा था। नक्षत्र ऐसा बेचैन था कि वे भोले-भाले स्वर भी उसकी नसों पर चोट करने लगे। वह अकुला उठा। उसे लगा जैसे न जाने कौन सी प्रवंचना नसों के सहारे उसकी आत्मा में प्रवेश कर गयो है और वहां बैठकर कभी अपने आंसुओं से कभी अपनी मुसकानों से उसके सारे व्यक्तित्व को ही बदले डाल रही है। उसे लगा जैसे किसो ने उसकी आत्मा को चुम्बनों से ढक दिया है और हर चुम्बन शत शत पङ्ख बन कर उसे दर्द के देश में उड़ाये लिए जा रहा है। वह भाग कर देवता के मन्दिर में गया और पट बन्द कर लिये। देवता के पैर पकड़ कर बोला—'मेरी पूजा !' और अपने सम्बोधन पर वह खुद ही कांप गया, फिर क्षणभर चुप रहा और गहरी सांस लेकर कातर स्वरों में बोला—'मेरे देवता। यह मुझे हो क्या गया है ? मैंने अभी तुम्हें पुकारा मगर वाणी पर उसका नाम क्यों उतर आया। तुम जानते हो कि मैंने अपने व्यक्तित्व के चारों ओर इतनी उलझन, इतनी अस्पष्टता इसीलिए बुन रखी थी कि मेरे हृदय में बसने वाले भगवान् का सौन्दर्य अनदेखा रहे, अछूता रहे। लेकिन किस अभाग्य के क्षण में वह मेरे व्यक्तित्व के बादलों को चीरती

हुई आत्मा की गहराई तक उतर गयी। और जाने क्यों अब ऐसा लगता है कि वहां से उसे निकाल न सकूंगा। अच्छा, एक बात बताओ देवता, तुमने मेरी भली बुरी हर प्रकार की पूजा स्वीकार की है। अगर मैं उसे तुम्हारे चरणों पर चढ़ाऊँ तो क्या तुम स्वीकार न करोगे? नहीं देवता, वह तुम्हारे प्रति उपेक्षाशील भले हो मगर मैं क्या करूँ मेरे हाथों में तो वहीं फूल आ गया है। मैं उसी को अपनी अंजलि में सहेज कर, सांसों से धोकर, आंसुओं से निखारकर तुम्हारे चरणों पर चढ़ाऊँगा। और तुम्हें स्वीकार करना ही होगा मेरे भगवान्!'

उसने याचना में ही नहीं वरन् आग्रह के स्वरों में यह सब कहा और देवता की चरण रज लेकर चला आया।

और फिर उसके मन की व्याकुलता कुछ शान्ति हुई। और वह धीरज से पूजा की प्रतीक्षा करने लगा। और प्रतीक्षा करते करते वह मूर्त्तियाँ बनाने में तल्लीन हो गया।

और एक दिन उसके प्राणों पर मंड़राते हुये बादलों को देखकर आकाश में भी क्वार-कार्तिक के परदेशी बादल आये। हवा में एक नमी, ख़ुन्की घुल मिल गई और झोंके इतने तीखे और तेज हो गये कि लगने लगा कि सांझ के सितारों को उड़ा ले जायँगे। नक्षत्र ने अपनी मूर्तियाँ एक ओर रखीं। उठकर बाहर चला आया और द्वार पर टिक कर पूजा के बारे में सोचने लगा जैसे कोई मलयज का झोंका फूल की सुकुमार पंखुरियों में उलझ जाय।

और थोड़ी देर में उसने देखा—दूर पर पूजा जा रही है। हलके फालसाई रंग के वस्त्र को समेटती हुई वह ऐसी लगती थी जैसे ऊदी बदलियों में लिपटी चम्पई बिजली का टुकड़ा झोंकों पर उड़ रहा हो। नक्षत्र का मन नाच उठा। उसने उल्लास के स्वर में पुकारा—'पूजा!'

पूजा रुक गयी, मुड़ी मगर फिर चल दी।

नक्षत्र ने फिर पुकारा—वह ठिठक गई और फिर चली आयी।

'क्यों, इतने दिनों से नहीं आयीं पूजा?'

पूजा चुप रही। वह उदास थी और कुछ आहत भी।

'बोलतीं क्यों नहीं ? मैं इस समय तुम्हारे ही बारे में सोच रहा था।'

'ओहो ! देवता के साधकों को मनुष्यों के बारे में भी सोचने का अवकाश मिल जाता है?'—उसने बहुत गम्भीर स्वर में कहा—'मेरे विषय में सोचने का व्यर्थ कष्ट किया आपने।'

नक्षत्र व्यंग समझ गया। लेकिन उसके पीछे की घुलती हुई उदासी पहचानकर वह डर गया।

नहीं पूजा, व्यङ्ग फिरकर लेना—'लेकिन सचमुच तुम आयी क्यों नहीं?'

'मुझे कोई चित्र नहीं पहुँचाना था और रही मेरे आने की बात तो एक दिन मैं चित्र ज़रूर थी मगर न जाने किस अभागे क्षण में किसी की एक नीली दृष्टि किरण ने मुझ में प्राण फूँक दिये। उसके बाद मैं बन गयी व्यक्तित्व—नारीत्व और फिर यहाँ आकर अपमान सहने की इच्छा नहीं हुई।'

'अपमान तुम्हारा किसने किया पूजा ?'

'तुमने, तुमने नक्षत्र ! उस दिन मैंने दुर्बलता के क्षण में जाने क्या-क्या कह दिया; वह जो मैं कभी भी नहीं कहना चाहती थी। मैंने क्यों कहा तुमसे कि नारी किसी एक को देवता मान लेती है। मैंने क्यों कहा तुमसे कि तुम्हें भी कोई देवता मान बैठा है।'

'पूजा !'—काँपते हुए स्वरों में नक्षत्र ने कहा।

पूजा के स्वरों में आँसू घुल गये थे और वह पिघल रही थी। सिसकती हुई बोली—'नहीं नक्षत्र, तुम नहीं जानते—तुम्हारे लिए दुनिया देवता है, मुक्ति है, स्वर्ग है, न जाने क्या क्या है ? नारी के लिये यह सब कुछ नहीं है। मेरी सारी दुनिया महज पलकों की एक बूँद में उत्तर गयी थी और प्राणों के दर्द की वह बूँद मैंने किसी के चरणों पर चढ़ायी और उसने उपेक्षा से उसे झटक दिया। यह वेदना नहीं, उससे बढ़कर, अपमान है।'

नक्षत्र चुप था। उसने कातर निगाहों से पूजा की ओर देखा।

उसके चेहरे पर एक रुपहली उदासी थी और एक गुलाबी आग थी। दो अजनबी सपने पिघल कर छलक आये थे लेकिन गालों पर गर्व की रतनार लपटें थीं। उनके बोझ से गुलाब की पत्तियां जैसे ओठ काँप रहे थे। आवेग से गले की एक नीली नस रह रह कर काँप उठती थी जैसे कमल की श्वेत सुकोमल पंखुड़ी पर टूटकर गिरा हुआ भौंरे का तड़पता हुआ पंख। धुँआँ धुँआँ सी नज़रें जैसी मेघदूत के कचनार बादल घिर आये हों।

नक्षत्र पागल हो गया। वह आगे बढ़ा और अपने आप पूजा की अंगुलियाँ उसके हाथों में आ गयीं। पूजा की सांसे बादल के रेशों की तरह काँप उठी लेकिन उसने हाथ हटाया नहीं।

नक्षत्र को लगा जैसे उसके हाथों में तुषार शीतल बिजलियाँ उलझ गयी हों। उसने काँपते हुए स्वरों में कहा—'पूजा, मैं न जाने क्या कहना चाहता हूँ। मैंने तुम्हारी उपेक्षा नहीं की। अपमान नहीं किया। पूजा, तुमने कम से कम अपने को व्यक्त कर दिया। मैं वह भी नहीं कर पाया था।'

'मैंने अपने को व्यक्त कर दिया; यह मेरी कितनी बड़ी हार है नक्षत्र। यह तुम कभी नहीं समझोगे। मैंने सोचा था मैं अपने पूजा गीत को प्राणों की तहों में छिपाकर रखूँगी जहाँ मेरी वाणी तो दूर मेरा मन भी न जान पायगा कि पूजा किसकी है। लेकिन न जाने कौन सा जादू था तुममें कि तुम अन्तरतम में प्रवेश कर मेरे हृदय के रहस्यों को चुरा लाये। और उस पर स्वयं अपने को इतना तटस्थ रखा तुमने कि मुझे ही अपने आँसुओं से आत्मसमर्पण लिखना पड़ा; और तुम विजेता की तरह मुसकुराते रहे। और उस आत्मसमर्पण का मूल्य भी क्या है तुम्हारी निगाह में; कुछ भी नहीं। वह तो तुम्हारी विजय सम्पत्ति है। उसे चूमना व्यर्थ है। उसे तो ठुकरा देने में ही विजय का गौरव समझा है तुमने।'

'नहीं पूजा, तुम नहीं जानती कितनी बार मैं साँसों से तुम्हारे आँसू चूमता रहा हूँ। इधर तुम कितनी नशीली प्रेरणा बन चुकी थीं यह

तुमसे भी कभी नहीं बताया मैंने। मगर यकीन मानों मेरी कला की हर रेखा में, मेरी मूर्तियों के हर उभार में, मेरी हर कल्पना में, हर निर्माण में तुम्हारी सासें गूँजी हैं। इन पत्थर के टुकड़ों पर मैंने तुम्हारी कहानी लिखी है। मेरी कला महज तुम्हारी अभिव्यक्ति रही है, पूजा !'

'फिर तुमने छिपाया क्यों ? मेरा अभिमान भी टूटा और'······पूजा फिर सिसकने लगी।

'अभिमान तोड़ने के लिए मैंने नहीं छिपाया। मैं न जाने कब से इन पत्थर के स्वरों में व्यक्त करता रहा हूँ अपने को। लेकिन अपने प्राणों में समाकर भी तुम्हें इतने दूर महज इसलिए रखा कि तुम्हारा प्यार मेरे लिए केवल प्रतिस्नेह की नहीं, पूजा की वस्तु रहा है। लेकिन वह पूजा मैं अपने तक सीमित नहीं रखना चाहता। यह मुझे स्वार्थ लगता है। तुम इतनी पवित्र हो इतनी निश्छल हो कि तुम मेरे नहीं, मेरे देवता के योग्य हो। तुम नहीं जानतीं कि मेरे जीवन-दर्शन में प्यार की आकुलता के साथ साथ एक इतना कठोर संयम है जो तुम्हें केवल अपने में बाँधकर संतुष्ट नहीं हो सकता।'

'लेकिन मैं किसी देवता को नहीं मानती ! नक्षत्र मेरे देवता, मैं तुम्हीं में बंधना चाहती हूँ।'

नक्षत्र ने उसकी उँगलियाँ छोड़ दीं और उसकी नरगिसी निगाहों को अपनी निगाहों से चूमते हुए कहा—'पूजा, मैं बाँधने के लिए नहीं हूँ। शायद प्यार के उस लक्ष्य में मेरी आत्मा भी नहीं है। मैं तुम्हारा लक्ष्य नहीं बनना चाहता। मैं तो महज पथ का दीपक हूँ। प्रकाश लो मुझमें उलझो मत। तुम्हारी मंजिल मुझसे भी ऊपर उठकर है। बस उसी की ओर उन्मुख करना मेरा लक्ष्य है। तुम्हारी प्रेरणा मेरी शक्ति रही है मैं चाहता हूँ तुम मेरा प्यार लो और अपने पथपर बढ़ती रहो। मैं महज पूजा फूल की तरह देवता के चरणों पर तुम्हें चढ़ा देना चाहता हूँ।'

'और इसे तुम अपना त्याग समझते हो नक्षत्र। यही स्वार्थ है, दुर्बलता है। जानते हो बिना पूजाफूल के कभी भक्त को देवता के मन्दिर में जाने ही को नहीं मिलता। देवता से वरदान पाने की लालच में किसी फूल को तोड़ लेना, देवता के चरणों पर चढ़ाकर वरदान ले लेना और फिर उसे छोड़ देना पत्थर के चरणों पर घुल, घुलकर मर जाने के लिए यही तुम्हारे प्यार की साधना है? अच्छा है तुम्हारा देवता और उसकी भक्ति!'

'नहीं, मेरा मतलब यह नहीं है। मैं तुममें, अपने पूजाफूल में, महज अपनी सांस भर देना चाहता हूँ ताकि तुम देवता तक पहुँच जाओ मेरी पूजा!'

'छिः कौन देवता? मेरा देवता सिर्फ एक है। मैं उससे अलग नहीं रहना चाहती। नक्षत्र, नारी पर व्यंग करना दूसरी बात है उसको समझना बहुत कठिन होता है। पुरुष के प्यार को प्रेरणा और आधार दोनों ही अपार्थिव हो सकते हैं, नारी से ऊपर उठकर हो सकते हैं। वह देवता को प्यार कर सकता है कला को प्यार कर सकता है, पूर्णता को प्यार कर सकता है लेकिन नारी केवल पुरुष को प्यार कर सकती है। उसी के चरणों पर बिखर सकती है। उसी की पूजा में घुल सकती है। तुम उसके अन्दर पूजा की प्यास जगा देते हो। उड़ने की यह प्यास जगाकर पङ्ख काट देने में विश्वास करते हो! अच्छा वरदान है तुम्हारा नक्षत्र!'

'नहीं मुझे गलत मत समझो!'

'बिलकुल यही है'—पूजा ने कहा—'तुम्हारा जो भी वरदान है मुझे स्वीकार है मगर उसे उचित कहूँ यह मुझसे नहीं होगा। कम से कम इतना अधिकार तो रहना ही चाहिए वैसे तो—'

और उसके बाद वह फिर सिसक सिसक कर रोने लगी।

नक्षत्र उठा और चल दिया। उसके रोम रोम में सैकड़ों तारे चूर चूर हो रहे थे। वह पागल-सा हो रहा था। इतना भयङ्कर तूफान कभी

उसकी पसलियों से नहीं टकराया था। उससे दिलकी धड़कनें क्षतविक्षत हो रही थीं।

उसकी गति, उसका विवर्ण चेहरा देखकर पूजा स्तब्ध हो गयी उसके आँसू पलकों ही में घुट गये। नक्षत्र ! नक्षत्र ! उसने पुकारा। मगर नक्षत्र रुका नहीं। पूजा दरवाजे से टिककर बहुत देरतक रोती रही और धीरे धीरे अपने कक्ष में लौट गयी।

दो दिन और दो रातें पूजा ने आंसुओं के देश में बितायीं। घुलते हुए मोमदीप की तरह वह आंसुओं की गीली आग में सुलगती रही। आंखें सांझ का आकाश बन गयी थीं, ऐसी सांझ जिसके हजारों तारे टूट चुके हों।

तीसरे दिन कुंकुम आयी। पूजा सम्हल गयी और उसने हंसने की कोशिश की मगर......!

'क्या हुआ पूजा ?' कुंकुम ने सशंकित होकर पूछा।

'कुछ तो नहीं !' अपनी रूखी अलकें समेटते हुए पूजा ने कहा।

'ओह, दो ही दिन हुए नक्षत्र को गये हुए अभी से यह......!'

'नक्षत्र को गये हुए ?'—जल्दी से बात काट कर पूजा ने पूछा !

'हां, पता नहीं कहां गया। उस दिन पानी बरस रहा था न। उसी दिन से पता नहीं, कहां अदृश्य है'—उसके गालों पर कमल कली मारते हुए कुंकुम ने कहा।

पूजा ने एक गहरी सांस ली और एक हठीला आँसू उसकी पलकों से झांकने लगा। कुंकुम घबरा गयी।

'क्या हुआ। अरे, तू तो रो रही है'—उसने पूजा कोपास खींचकर उसकी पलकें चूमते हुए कहा।

पूजा अलग हट गयी और मुसकराने का प्रयास करती हुई बोली—'रो कहां रही री ! तेरे कमल का पराग पड़ गया था।'

'अच्छा तो उठ, तेरा शृङ्गार कर दूं, फिर तुझे एक बड़ी ही खुशी की बात बताऊँगी !' और उसने फिर उस दिन कीतरह बिंदिया रचाने के

लिए हंस का पर मृगमद में डुबोकर पूछा—'क्या बनाऊँ ?' तो पूजा ने शान्त स्वरों में कहा—'मेरे दुर्भाग्य का तारा बना दे।'

'तारा बना दे ! ओहो, साफ़ साफ़ क्यों नहीं कहतीं नक्षत्र बना दे !'

पूजा इस परिहास पर चौंक उठी। एक ध्रुवतारा उसकी आंखों में जगमगा उठा लेकिन फिर वह चिटख गया।

और वह बोली—'कुंकुम आगे से वह नाम मत लेना। मुझे पीड़ा होती है !'

स्वर में कुछ ऐसी दृढ़ता, ऐसी कठोरता, ऐसा थमा हुआ तूफान था कि कुंकुम सहम गयी।

'यह आखिर हुआ क्या पूजा। मुझे नहीं बताओगी ? तुम इस तरह उदास हो, नक्षत्र न जाने कहाँ चला गया है ?'

'इसका मुझे और भी दुख है। मैंने इतने दिनों तक अपना प्यार छिपाये रखा। एकान्त में उन पीड़ा की लपटों में चुपचाप घुलने का कितना सुख था। लेकिन इधर कुछ दिनों से मैं पागल हो उठी थी। एक बेहद नशीला, अगर बेहद खूनी दर्द मेरी नसों को झकझोर रहा था। लगता था जैसे मैं अभिव्यक्त हुए बिना नहीं रह पाऊँगी। इस नयी प्यास का नया सवेरा मेरे दिल की दो सुकुमार पंखुरियों के बीच कैद नहीं रह पाया और एक दिन मैं प्रभाती कमल की भांति खुल ही पड़ी उनके सामने। मगर इससे हुआ क्या ? मेरे नारीत्व का अभिमान भी टूटा और उनके सामने एक उलझन भी बिछ गयी। वे देवता को प्यार करते हैं, पूर्णता को प्यार करते हैं। उनके सामने मोक्ष भी क्या है मेरे व्यक्तित्व के समर्पण का। अब तक मैं एक दर्द के सहारे जीती थी, अब उसका भी आसरा नहीं। उसका गला रुँध गया और वह सिसकते हुए बोली—मन में आता है मैं मर जाऊँ, फिर सोचती हूँ मगर मरने के बाद अगर प्यार नहीं कम से कम तरस की निगाह से भी कोई एक बार मुझे देख लेता...मगर वे तो कहेंगे चलो अच्छा हुआ देवता के चरणों के समीप चली गयी। नहीं, यह सुनने के लिए मैं नहीं मरूँगी। मगर

फिर सोचती हूँ जिन्दा भी रहूँ तो क्यों ? किसके लिए ?'

'पगली कहीं की । तू जिन्दा रहेगी एक बहुत बड़ी किस्मत के लिए । सुन, यही बताने के लिए आचार्य ने मुझे भेजा है ।'

'क्या ?' स्वस्थ्य होकर पूजा ने पूछा—

'आज अमावस है पगली । मंजूषा आज खोली गयी थी और मैं तुझे तेरी किस्मत पर बधाई देने आयी हूँ ।'

'मेरी किस्मत पर !' पूजा एक बड़ी फीकी हंसी हंसकर बोली—'क्या हुआ ।'

'तेरा ब्याह देवता से होगा !'

'कुंकुम !'—डांटकर पूजा ने कहा—'परिहास की एक सीमा होती है ।'

'परिहास नहीं पगली, सच कह रही हूँ । तेरे पिता की इच्छा है कि तू देवता की दासी बने । इस मंदिर की अतुल सम्पत्ति पर तेरा ही अधिकार होगा मगर तुझ पर देवता का अधिकार होगा ।'

पूजा हंस पड़ी ।

'आह, हंसी न तू ! मैं पहले से जानती थी तू देवताओं के योग्य थी, मनुष्य के नहीं !'

पूजा रो पड़ी !

'तो यह है मेरे भाग्य में ! वे चाहते हैं मैं देवता के चरणों पर चढ़ूं पिता की इच्छा है मैं देवदासी बनूं । और मेरी इच्छा—कितनी नाचीज़ मेरी इच्छा । मैं तो महज़ दूसरे की इच्छा पर चूर चूर हो जाने के लिए बनी हूँ । कितना महान भाग्य है मेरा ।'

और वह आंसुओं को मसल मसल कर मुसकान बनाने की कोशिश करने लगी ।

इतने में द्वार खुला और आचार्य ने प्रवेश किया । पूजा सम्हल कर बैठ गई ।

'बेटी'— आचार्य ने आकर गद्गद कंठ से कहा—'कुंकुम ने तुझे बताया !'

'हां बाबा !'—पूजा ने अपने पर काबू कर लिया था।

'तुझे सुख है न बेटी ?'

'क्यों नहीं बाबा !'

'मैं जानता था, मैं जानता था बेटी'—उनके स्वर से स्नेह और उल्लास बरस रहा था—मैं जानता था एक दिन आयेगा जब मेरी बेटी देवता के रहस्य को समझेगी उनके चरणों में झुकेगी और मेरे भगवान् उसे स्वीकार करेंगे—मैं जानता था !' और उन्होंने झुककर पूजा के पैरों की धूल माथे पर लगा ली !

पूजा ग्लानि से चूर चूर हो गयी—'अरे यह क्या बाबा ?'

नहीं अब तुम केवल मेरी पूजा बेटी नहीं हो। तुम हो मेरे भगवान् की अधीश्वरी। जो भाग्य बड़े बड़े भक्तों को नहीं मिला वह तुम्हें मिला है। आशीर्वाद दो देवी मुझे कि तुम और भगवान, तुम दोनों की सेवा में मेरे बचे खुचे दिन भी कट जायं।'

पूजा स्तब्ध थी।

'कल बेटी, तेरी दीक्षा है। कल हमारे सम्प्रदाय में राधा की प्रतिष्ठा है और तेरी दीक्षा।'

'राधा की प्रतिष्ठा ? कुंकुम ने आश्चर्य से पूछा !

'हां बेटी, नक्षत्र भगवान का अनन्य भक्त है। उससे देवता ने कहा है कि उनके अवतार का, उनकी महिमा का मुख्य कारण एक गोपी थी जिसने जन्म जन्मान्तर में उनकी अनन्य आराधना की थी। इसी से उनका नाम राधा पड़ा। भगवान् चाहते हैं उनके पार्श्व में उसकी प्रतिमा स्थापित की जाय। नक्षत्र राधा की मूर्ति बना रहा है। और तू'—उसने पूजा की ओर संकेत करके कहा—'तू राधा की प्रतिनिधि होगी। आह, भगवान् की महिमा तो देखो कैसा नाम है, राधा माने भी तो पूजा ही होती है। लेकिन नाम अगर तूने राधा का पाया है तो उनकी पूजा भी तुझे निभानी होगी। ओह कितना बड़ा भाग्य है तेरा ? कितना बड़ा भाग्य......!'

पूजा दर्द से तड़प उठी—और चल दी।

'कहां चली बेटी ?'

'जरा मन्दिर जा रही हूँ। भगवान् के पास।'

आचार्य हंसे—'कुंकुम, देख तो। कैसा रहस्य है देवता का। अभी से इतनी उत्कण्ठा जगा दी अपनी पूजा के मन में !'

वह भरी बरसात की तरह धंसती गयी मन्दिर में और देवता के सामने बरस पड़ी। 'देवता ! पत्थर के देवता ! मानव के साथ परिहास करने में तुम्हें कौनसा सुख मिलता है। तुम अपने बगल में राधा की प्रतिमा स्थापित करना चाहते हो किसी के बगल से राधा की प्रतिमा छीन कर। यह कहां का...... !'

सहसा उसने देखा कोई पहले ही से देवता की उपासना में तल्लीन है। वह चौंककर पीछे हट गयी और चुपचाप खड़ी हो गयी। उपासक चुपचाप देवता के चरणों पर सर रख कर आंसू बहा रहा था।

थोड़ी देर में उसने सर उठाया और कहा—'देवता, चाहे और कोई समझे या न समझे मगर तुम मुझे समझते हो। अभी तक मेरे और पूजा के बीच में तुम्हारी प्रतिमा थी। आज से तुम भी हट जाओगे। मैं तुम्हें तुम्हारी राधा सौंप रहा हूँ। तुम मुझे मेरी पूजा दे दो ! यही मेरी उपासना है, यही तुम्हारा वरदान ! जो मुझे प्रिय है वही तुम्हें दे रहा हूँ। और दूँ भी क्या ? मुझे मिली है किसी की अनन्य पूजा जिसने मुझे शिल्पी से कलाकार बनाया, मनुष्य से देवता बनाया और वही पूजा राधा के रूप में तुम्हें दे रहा हूं देवता ! अच्छा, अब आज्ञा दो ! मैंने किसी की आराधना के साथ उपेक्षा करके अन्याय किया था। अब प्यार करके प्रतिकार करूँगा !'

पूजा तड़प उठी। यह चोट के बाद चोट क्यों। जब वह अपना सम्पूर्ण समर्पण लेकर नक्षत्र के पास गयी तो नक्षत्र ने बीच में देवता की शर्त रक्खी। आज जब नक्षत्र देवता को हटा कर बढ़ रहा है उसकी ओर तो वह देवता की हो चुकी है। क्या नारी का सर्जन ही इस लिए हुआ है

कि उसके दिल की हर धड़कन, उसकी पलकों का हर सपना उसे छलता रहे। वह चीख उठी—'उफ, मैं रह भी नहीं पाती—सह भी नहीं पाती, रो भी नहीं पाती!'

'कौन पूजा?'—नक्षत्र मुड़ा—'आओ, मैं तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहा था। ओह ये चार दिन मैंने कैसे बिताए हैं पूजा! तुम हर क्षण मुझे बदलती रही हो। एक दिन मैं तुम्हारे सामने विजयी था। आज विजय तुम्हारी है। मैं दण्ड में तुम्हारा बन्धन चाहता हूँ।'

पूजा हँस पड़ी। ऐसी हँसी जो शंकर ने सती की लाश कन्धों पर रखते वक्त हँसी होगी।

'तुमने बहुत देर कर दी, भावी आचार्य नक्षत्र, अनन्य भक्त, तुमने बहुत देर कर दी।'

'देर कैसी पूजा! जब हृदय झुक जाता है तभी पूजा की बेला आ जाती है मेरी रानी!' आगे बढ़कर उसने पूजा के दोनों हाथ अपने हाथों में दबा लिये।

पूजा की पसलियों से एक सिसकी झलकते छलकते रह गयी उसने धीरे से अपने हाथ खींच लिये—'ये उँगलियाँ अब देवता की हैं नक्षत्र!'

'क्या?'—नक्षत्र स्तब्ध हो गया।

'हाँ, कलतक मैं कुमारी थी—अपना यौवन, अपना हृदय, अपना रूप किसी को भी समर्पित करने को स्वतन्त्र। आज मैं देवदासी हूँ, मेरी सुकुमार प्यासी भावनाएँ, मेरी अछूती तरुणाई आज महज उसकी है, उस पत्थर के देवता की।'

नक्षत्र के आगे आकाश घूम गया। वह चुप रहा फिर धीरे से रुँधे गले से बोला—'पूजा, तुमने बहुत जल्दी की निर्णय में। महज चारदिन में जिन्दगी की बाज़ी पलटने की भूल क्यों की आखिर।'

'नहीं, चार दिन नहीं; यह १६ साल का निर्णय है।'

'सोलह साल! पहले ही से निश्चित था कि तुम देवदासी बनोगी। फिर तुमने मेरे प्राणों के आगे यह मृगजाल क्यों रचा। यह सैकड़ों धूम-

केतुओं का आवेग क्या तुमने मेरी साँसों में भर दिया। आज जब मेरी आत्मा का तूफान अपने अर्द्धवृत्त को पूरा करने के लिए पागल हो उठा है उस समय तुम इस तरह जा रही हो—कितना बड़ा खेल किया है मेरे जीवन से तुमने पूजा !'

'नहीं, मैं स्वयम् इस निर्णय से अनजान थी। आज मेरी सोलहवीं वर्षगाँठ पर यह मालूम हुआ कि मेरे पिता की इच्छा मुझे देवदासी बनाने की है। तुमने भी कहा था कि तुम देवता की पूजाफूल बनो। मैं क्या करती ? मै निराश थी नक्षत्र !'

'ठीक किया पूजा ! अपमान मैंने किया था, अभिमान मैंने तोड़ा था, अब दण्ड भुगतने कोई दूसरा नहीं आयेगा।'

'नहीं, ऐसा मत समझो मेरे देवता, ओह भूल गयी नक्षत्र !'

'कैसे न समझूँ ? पहले मुझे जिन्दगी सफलता लगती थी। फिर मुझे जिन्दगी साधना लगी—आज मुझे जिन्दगी प्रवंचना लग रही है—और प्रवंचना भी नहीं आज तो मुझे अपना व्यक्तित्व ही एक भूल—भूल क्यों गुनाह लग रहा है। तुम सुखी रहो पूजा, मैं इसका प्रायश्चित कर लूँगा।' और वह मन्दिर के बाहर चल दिया।

'ओह, सुनो, रुको, इस तरह मुझे चूर चूर करके मत जाओ नक्षत्र ! क्या सुनना ही चाहते हो, सुनो तुम मेरे आराध्य रहे हो, आराध्य रहोगे। मेरा शरीर देवता का हो मगर आत्मा तुम्हारा है मेरे सब कुछ !'

इस पर नक्षत्र मुसुकुराया। जैसे प्रलय होने के पहले सितारे मुसुकुराते हैं।

'नहीं मुसुकुराओ मत ! अविश्वास मत करो। आज से तुम्हें जो कुछ कहना हो तुम देवता के ओठों में रख देना वे राधा से कह देंगे मैं सुन लूंगी, समझ लूँगी सन्देश तुम्हारा है। जो कुछ मुझे कहना होगा मैं राधा के होंठों में रख दूँगी—वे देवता से कहेंगे। तुम सुनकर समझ लेना सन्देश मेरा है। बोलो है मंजूर !'

मगर नक्षत्र ने कुछ जवाब नहीं दिया। वह चला गया चुपचाप…!

दूसरे दिन पूजा की दीक्षा थी। लेकिन सुबह से ही उसने दिल पर पत्थर रख लिया था इस भरोसे से कि नक्षत्र तो उसी का है। कुंकुम के सहारे, शृङ्गार कर वह मन्दिर में गयी। प्रवेश करते ही सभी ने उसे प्रणाम किया श्रद्धाभाव से।

किन्तु उसकी निगाहें कुछ और खोज रही थी। उसने चारों ओर देखा नक्षत्र अभी नहीं आया था। एक एक करके अनुमान होने लगे। उसने फूल चढ़ाये अर्चना की।

नक्षत्र अभी नहीं आया! देवता के चरण रज से उसकी माँग भरी गयी।

नक्षत्र अभी नहीं आया! अन्तिम विधि समीप आ गयी। एक आरती की दीपशिखा के साथ उसका परिणय हुआ।

लेकिन नक्षत्र अभी नहीं आया!

वह पागल हो उठी। क्या अन्तिम क्षण पर वह टूट जायगी। वह नक्षत्र के सहारे यह सब सह रही थी क्या वही आधार इस समय हट जायगा। कितना बड़ा बदला नक्षत्र ले रहा है। अब वह न रह सकी। उसने व्याकुल होकर आचार्य से पूछा।

'क्या आज राधा की प्रतिष्ठा नहीं होगी?'

'होगी क्यों नहीं बेटी?'

'मगर नक्षत्र तो नहीं आया अभी तक!'

'आया था बेटी,—लेकिन!......'

'लेकिन क्या?'

'कुछ नहीं!'

'बताओ न क्या हुआ?'—उसको लगा जैसे उसके दिल की धड़कनें डूब जायँगी!

'उसे इस सम्प्रदाय से निर्वासन का दण्ड मिल गया है।'

'क्यों' वह चीख पड़ी।

'बात यह हुई बेटी कि वह राधा की मूर्ति बनाकर लाया। मूर्ति बड़ी

सुन्दर थी अतः वह स्वीकार कर ली गई लेकिन उसमें किसी मानव का रूप झलक आया था। देवी में मानवीय रूप लाना पाप है। बेटी इसी से उसे दण्ड मिला।'

'आखिर उस प्रतिमा में रूप किसका था ?'

आचार्य चुप रहे। कुंकुम ने झुककर कान में कहा—'लोग कहते हैं, वह प्रतिमा तेरी है !'

'मेरी है ! आह नक्षत्र, मैंने यह क्या किया'—और वह फूटकर रो पड़ी।

'क्या हुआ ?' सारी सभा व्यग्र हो उठी।

'कुछ नहीं।' आचार्य ने खड़े होकर शान्त स्वर में कहा—'भावावेश की तीव्रता से आँसू छलक आये। श्री प्रभु की असीम कृपा है !'

'भगवान् उसे जीवन में सुख दें ! शान्ति दें, सन्तोष दें। भक्तों ने एक स्वर में श्रद्धाभाव से कहा।'

डा० ब्रजमोहन गुप्त

एक दशाब्दी से ज्यादा समय हुआ। प्रेमचन्द्र जी ने 'हंस' निकाला था। फ्रेन्च, रूसी, अंग्रेजी और उधर गुजराती, मराठी, तामिल कहानियों से हिन्दी का परिचय हो रहा था। उसी समय हंस में कुछ कहानियां प्रकाशित हुईं, वैज्ञानिक कथानकों के आधार पर! उनमें प्रतिभा की एक ऐसी नई धूम थी कि उन्हों ने सारे हिन्दी जगत का ध्यान आकर्षित कर लिया। वे कहानियां थीं डा० ब्रजमोहन गुप्त की!

उसके बाद वे गम्भीर अध्ययन में लग गए। छायावाद, रहस्यवाद पर थीसिस दी और इधर फिर उन्होंने क़लम उठाई और एक वर्ष के अन्दर कई पुस्तकें आपकी प्रकाशित हुईं।

इस समय आप प्रयाग के ट्रेनिंग कालेज में अध्यापक हैं। आप की लेखनी की गति चतुर्मुखी है और हर साहित्यिक क्षेत्र में पूर्ण रूप से परिचित हैं।

प्रेम कीटाणु

वैज्ञानिक ने बिजली की अँगीठी से परख-नली निकाली। उसमें किसी धातु के सुनहले चमकते हुए टुकड़े थे। वैज्ञानिक ने ध्यानपूर्वक उनका निरीक्षण किया। उसके अधरों पर मुसकान की हल्की-सी रेखा दौड़ गई। 'शायद इस बार सफलता मिल गई'—वह गुनगुनाया। उसने परख-नली को एक प्याली में रख दिया। उसमें थोड़ा सा कोई तरल पदार्थ डाला और गरम किया। उसके हाथ काँप रहे थे; उसके हृदय में धड़कन थी। उसे आज देखना था कि उसकी दस वर्ष की तपश्चर्या के पश्चात् भी उसे अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त हुई या नहीं। वे धातु के टुकड़े उस तरल पदार्थ में घुल गये। वैज्ञानिक ने उसमें से थोड़ा-सा घोल दूसरी परख-नली में ले लिया और किसी प्रकार अपने काँपते हुए हाथों को साधकर पास रखी एक बोतल में से थोड़ा-सा द्रव उसमें डाल दिया। परख-नली में तुरन्त ही कोई काली वस्तु बैठ गई। निराशा की एक रेखा उसके चेहरे पर दौड़ गई। उसने माइक्रासकोप से ध्यान-पूर्वक उस परख-नली को देखा! 'ओफ! सारा प्रयत्न निष्फल हो गया।' उसने कहा—'यह अन्तिम प्रयोग था, इसके साथ ही सब कुछ समाप्त होगया।' उसने एक ठण्डी साँस ली और पिछले दस वर्ष की घटनाओं के चित्र उसके नेत्रों के सामने नाचने लगे।

अब से दस वर्ष पूर्व उसके पास अतुल सम्पत्ति थी—ज़मीन थी, कोठियाँ थीं। और आज? आज सायंकाल के भोजन के लिए पैसे भी उसके पास नहीं! यह प्रयोग वह दस वर्ष से कर रहा था बीसों बार वह असफल हो चुका था, किन्तु फिर भी निराश नहीं हुआ था। इन प्रयोगों में उसका सब-कुछ समाप्त हो चुका था। उसने सोचा था, जैसे भी हो, एक बार यह प्रयोग और करना होगा। उसने अपने घर के बहुत से बर्तन, कपड़े और अपनी विज्ञानशाला का बहुत-सा अनावश्यक सामान बेच डाला था। प्राप्त धन द्वारा यह प्रयोग दोहराया और इस बार भी असफल ही रहा।

उसका चेहरा काला सा पड़ता जा रहा था। वह उस परख-नली को हाथ में लिए एकदम बुत बना कुर्सी पर बैठा था। उसके नेत्र बन्द थे। 'सफलता इस बार क्यों नहीं मिली? नहीं, मेरा सिद्धान्त ग़लत नहीं है, ग़लत नहीं हो सकता,' उसने सोचा—'किन्तु हाँ, शायद ताप-क्रम के कम रहने ही की वजह से इस बार भी प्रयोग असफल रहा। दस वर्ष के कठिन परिश्रम के पश्चात् यह सिद्धान्त ज्ञात हुआ। इसकी सत्यता में सन्देह नहीं किया जा सकता। क्या मैं एक बार फिर इसे...... किन्तु मेरे पास अब ऐसी भी तो कोई वस्तु नहीं बची, जिसे बेचकर प्रयोग के लिये धन प्राप्त हो सके। उफ़!......' उसने एक बार अपने बाल नोच लिये। फिर एक हाथ पर सर को थामकर सोचने लगा—'कहीं बाहर से भी तो सिर्फ़ एक बार फिर प्रयोग करने के लिए रुपया मिलना सम्भव नहीं।'

इतने में दरवाज़ा खुला। एक व्यक्ति ने कमरे में प्रवेश किया। वह अपने ध्यान में मग्न था। उसे इस नवागन्तुक के आने का भी ज्ञान नहीं हुआ। नवागन्तुक ने कहा—'क्यों जेम्स, किस चिन्ता में हो?'

वैज्ञानिक सहसा चौंका—'विलियम, आओ बैठो'—उसने पास पड़ी हुई कुर्सी को ठीक करते हुए कहा।

विलियम बैठ गया, और उसने अपना प्रश्न दोहराया—'किस

चिंता में हो ?'

'वही प्रयोग......।'

'क्या फिर भी असफल ही रहे ?'

'हाँ।'

'मैंने तो तुम से पहले ही कहा था कि ताँबे को सोने में परिणत करना असम्भव है। एक तत्व (एलीमेंट) दूसरे तत्व में परिणत नहीं किया जा सकता। उसका ध्यान छोड़ दो। हाँ, तो मैं तुम्हारे पास एक बहुत आवश्यक......।'

'नहीं, असम्भव नहीं है। तुम भी विज्ञान के विद्यार्थी रहे हो। मेरे सिद्धान्तों को समझ सकते हो। मेरा विश्वास है कि अगर तुम एक बार भी उन्हें सुन लोगे तो स्वीकार कर लोगे कि मैं ग़लत रास्ते पर नहीं हूँ।'

जेम्स ने विलियम की बात बीच ही में काटते हुए जोश के साथ कहा—'हो सकता है, तुम्हारे सिद्धान्त ठीक हों, किन्तु आज तो मैं तुम्हारे पास एक......'

'हो सकने की ही बात नहीं। वे ठीक हैं। देखो रेडियम भी तत्व है और सीसा भी।'

विलियम समझ गया कि जब तक जेम्स की बात नहीं सुन ली जायगी, उसे अपनी बात कहने का अवसर नहीं मिलेगा, नहीं मिलेगा। उसने कहा—'हाँ, तो फिर ?'

'रेडियम रखा-रखा बहुत काल पश्चात् सीसे में बदल जाता है, और इसका कारण भी बिल्कुल अस्पष्ट नहीं। प्रत्येक वस्तु अणु-परमाणुओं के सम्मिलन से बनी है और अणु-परमाणुओं की रचना विद्युत-कणों से हुई है। विभिन्न संख्या में विद्युत-कणों के सम्मिलन के विभिन्न वस्तुओं के अणु बन जाते हैं। वैसे सब वस्तुओं को बनानेवाले विद्युत-कण हैं एक ही प्रकार के।'

'तो इस विषय में आपने क्या सोचा......?'

'यही कि यदि किसी प्रकार अणुओं के अन्दर विद्युत-कणों की संख्या में परिवर्तन किया जा सके, तो एक तत्व के अणु दूसरे तत्व के अणु में परिणत हो जायँ, ठीक उसी प्रकार जैसे आक्सीजन के अणुओं के जोड़-तोड़ से ओज़ोन बन जाती है।'

'तो इसके लिए क्या उपाय सोचा ?'

'मैंने एक प्रकार की नवीन किरणों का पता लगाया है, जिनके प्रभाव से कुछ रासायनिक पदार्थों द्वारा अणु के विद्युत-कणों की संख्या में परिवर्तन किया जा सकता है। मेरा पूरा विश्वास है कि यदि एक बार प्रयोग करने का अवसर मुझे और मिले, तो मैं इस प्रयोग में अवश्य सफल हो जाऊँगा।'

'अपनी तो कह ली, अब कुछ मेरी भी सुनोगे या नहीं ? उससे तुम्हें बहुत-सा धन प्राप्त हो सकता है।'

'धन प्राप्त हो सकता है ? बोलो, बोलो, कैसे ?'

'तुमने मुझ से एक बार प्रेम-कीटाणुओं के विषय में कहा था और यह भी बतलाया था कि उनसे किसी भी मनुष्य में प्रेम जाग्रत किया जा सकता है।'

'हाँ, इस स्वर्ण की समस्या से पहले मैं उसी पर प्रयोग कर रहा था। मुझे सफलता भी प्रायः मिल गई थी, तभी इस नवीन समस्या की धुन सवार हो गई और मैं इस आविष्कार में लग गया।'

'उसके विषय में मुझे कुछ बता सकते हो ?'

'अवश्य, यद्यपि उस बात को बहुत दिन हो गये, किन्तु मैं उसे अभी तक भूला नहीं हूँ। मेरा विश्वास है कि एक प्रकार के कीटाणु होते हैं, जो सोई हुई दशा में प्रत्येक मनुष्य के रक्त में विद्यमान रहते हैं। जब वे जाग्रत अवस्था में आते हैं, तो मनुष्य प्रेम का अनुभव करने लगता है। किसी को देखकर जब रक्त में एक विचित्र ढङ्ग की प्रतिक्रिया होती है, तो उसके फल-स्वरूप वे जाग्रत अवस्था में आ जाते हैं, और वह मनुष्य उक्त मनुष्य के प्रति प्रेम का अनुभव करने लगता है। अन्य

कीटाणुओं की भाँति वे भी संख्या के शीघ्रता के साथ बढ़ने आरम्भ हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों उनकी संख्या बढ़ती जाती है, उसका प्रेम भी पुष्ट होता जाता है। इंजेक्शन के द्वारा शरीर में एक प्रकार के कीटाणुओं को पहुँचाकर प्रेम-कीटाणुओं को नष्ट भी किया जा सकता है। उसके पश्चात् मनुष्य किसी के प्रति भी प्रेम का अनुभव नहीं कर सकता। विज्ञानशाला में उन प्रेम-कीटाणुओं को उत्पन्न किया जा सकता है। उनको जब किसी प्रकार मनुष्य के रक्त में प्रविष्ट कर दिया जायगा, तो मनुष्य प्रेम का अनुभव करने लगेगा।'

विलियम बहुत ध्यानपूर्वक सब-कुछ मूर्तिवत् बैठा सुनता रहा। उसने यकायक चौंककर पूछा—'जब कीटाणुओं को रक्त में प्रविष्ट कर दिया जायगा, तो मनुष्य किसके प्रति प्रेम अनुभव करेगा ?'

'उस व्यक्ति के प्रति जिसे वह कीटाणुओं के रक्त में प्रविष्ट होने के पश्चात् सबसे पहले देखेगा।

इसके बाद विलियम बहुत देर तक सर पर हाथ रखे गम्भीरता-पूर्वक सोचता रहा। फिर अपनी कुर्सी जेम्स के और अधिक समीप सरकाकर कहने लगा—'देखो जेम्स, मुझे उन कीटाणुओं की बहुत जरूरत है और उसके लिए जितना धन माँगो, मैं दे सकता हूँ। देखो, मेरे पास अतुल सम्पत्ति है, सुख के अथाह साधन हैं किन्तु एक वस्तु के बिना मुझे जीवन भार-स्वरूप हो गया है,' वह उन्मत्त की भाँति कहता गया—'लिली का नाम तो तुमने सुना होगा। वह अपने सौंदर्य के लिए बहुत प्रसिद्धि पा चुकी है। जेम्स, वह है भी सुन्दर। शायद उस-जैसी सुन्दर स्त्री अभी तक पृथ्वी-तल पर कोई हुई नहीं। वह मेरे मकान के समीप ही रहती है। मैंने बहुत प्रयत्न किया किन्तु मैं उसे अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सका। उसका प्रेम प्राप्त करने के लिए मैं अपनी लाखों की सम्पत्ति न्योछावर कर सकता हूँ, क्योंकि उसकी अनुपस्थिति में वह मुझे सुखी बनाने में नितान्त असफल है। जब और कोई चारा न रहा, तो मैं तुम्हारी शरण में······'

'हाँ, मैं तुम्हारा कार्य कर सकता हूँ, किन्तु तुमको मेरे प्रयोग के लिए दस हज़ार देना होगा।'

'मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं। इससे भी अधिक की यदि आवश्यकता हुई, तो भी मैं इन्कार नहीं करूँगा,'—कहते हुए उसने जेब से एक चित्र निकाला और फिर कहना आरम्भ कर दिया—'जेम्स, तुमने शायद अभी तक लिली को नहीं देखा। देखो, यह उसका चित्र है। कितना निर्मल सौन्दर्य है! कितना भोला चेहरा है!'

विलियम ने चित्र जेम्स के हाथ में दे दिया। जेम्स ने एक उड़ती सी नज़र चित्र पर डालकर उसे मेज पर रख दिया और टकटकी बाँधकर विलियम के चेहरे की ओर देखते हुए कहा—'हाँ विलियम, तो जितना शीघ्र रुपया मुझे मिल जाय, उतना ही अच्छा, क्योंकि मेरा प्रयोग बीच में ही रुका हुआ है। मैं बिना रुपए लिए ही तुम्हारा कार्य कर देता, किन्तु मुझे इस समय रुपयों की आवश्यकता है। प्रयोग में सफलता हो जाने पर उसका दुगुना रुपया मैं तुम्हें लौटा सकता हूँ।'

'चेक मैं आज ही सायंकाल तुम्हारे पास भेज दूँगा। रुपयों की प्राप्ति की एक रसीद तुम्हें लिख देनी होगी। और हाँ, एक बात और, मेरा कार्य समाप्त करके तुम्हें अपने प्रयोग में हाथ डालना होगा।'

'उसकी तुम चिन्ता न करो, क्योंकि उसका बहुत-सा कार्य स्वर्ण वाले आविष्कार के लिए प्रयोग आरम्भ करने से पूर्व ही मैंने कर लिया था।'

जब विलियम वहाँ से चला गया, तो जेम्स को ज्ञात हुआ कि विलियम लिली का चित्र वहीं भूल गया है। उसने प्रयोगशाला में ही मेज़ की दराज़ में वह चित्र रख दिया। उसके बाद वह प्रयोगशाला में चक्कर लगाने लगा। प्रायः हर दस मिनट बाद उसकी दृष्टि घड़ी की ओर बरबस खिंच जाती थी। उसे ऐसा प्रतीत हुआ, मानो आज समय की चाल बहुत धीमी है। ज्यों-त्यों करके दिन बीता। सायंकाल को वह स्वयं रसीद लिखकर विलियम के घर पहुँचा और चेक ले आया।

उसने दोनों प्रयोग आरम्भ कर दिये, और एक सप्ताह में प्रेम-कीटाणुओं का प्रयोग समाप्त हो गया। उसमें केवल एक कार्य शेष था, और वह था उस तरल पदार्थ को, जिसमें कीटाणु उत्पन्न किये गए थे, पतला करना, क्योंकि उस मूल दशा में तो उस तरल पदार्थ की एक बूँद का दसवाँ हिस्सा भी मनुष्य के रक्त में पहुँचकर उसे उन्मत्त बना देने के लिए पर्याप्त था। उसके प्रभाव को कम करने की विधि वह सोच रहा था कि सहसा उसने कीटाणुओं की शीशी को मेज़ पर रख दिया। वह प्रयोगशाला के दूसरे कमरे में आया, जहाँ उसके स्वर्णवाले आविष्कार के यन्त्र लगे थे। समय लगभग तीन का होगा। प्रयोगशाला के उस कमरे में प्रकाश आने के लिए केवल एक खिड़की थी। इस समय वह भी काले परदे से ढकी थी। कमरे में सूर्य का प्रकाश किसी ओर से भी नहीं आ सकता था।

कमरे के मध्य भाग में एक बड़ी मेज़ बिछी हुई थी। उस पर काँच का एक बड़ा-सा यन्त्र रखा था, जो दोनों किनारों पर पतला और बीच में गोलाकार था। यन्त्र अन्दर से खोखला था। उसमें कुछ तार लगे थे, और वे बाहर से बिजली के तारों से जुड़े हुए थे। सारे कमरे में बिजली के तारों का जाल-सा फैला हुआ था। उस यन्त्र की एक ओर की नली में कोई तरल पदार्थ भरा था। कमरे में चारों ओर भीमकाय यन्त्र लगे थे। वैज्ञानिक ने एक बटन दबाया, जिससे एक यन्त्र का बहुत भारी पहिया अति शीघ्र गति से घूमने लगा। उसके साथ ही घड़घड़ाहट के शब्द से कमरा गूँज उठा और उस काँच के यन्त्र में लगे तार चमकने लगे। इसके बाद वैज्ञानिक ने एक और बटन दबाया। तुरन्त एक और यन्त्र में लगा पिस्टन तेज़ी के साथ चलने लगा। उसके चलते ही साँय साँय की ध्वनि हुई। उसका सम्बन्ध भी बीच के उस काँच के यन्त्र से था। उस यन्त्र के चलने से काँच के बड़े यन्त्र में लगे चमकते हुए तारों में से प्रकाश निकलने लगा, और लगभग आध घंटे के बाद सारा कमरा एक विचित्र प्रकार के नीले प्रकाश से जगमगा उठा।

वैज्ञानिक ने एक प्रकार के लाल ओवरकोट से अपने शरीर को ढंक लिया और कोई धूप के चश्मे-जैसी वस्तु आँखों पर लगा ली। इसके बाद वैज्ञानिक ने वह खिड़की खोल दी। एक परख-नली लेकर समीप ही रखी हुई बिजली की अँगीठी में रख दी और एक कान्केव-मिरर द्वारा उस काँच के यन्त्र से निकलनेवाली नीली किरणों को उस परख-नली पर केन्द्रित कर दिया।

अब वह उसी कमरे आ गया, जिसमें पहले कार्य कर रहा था। उसने कोई यन्त्र निकालने के लिए मेज़ का दरवाज़ा खोला था कि उस की दृष्टि जिली के चित्र पर पड़ी। 'अरे! यह अभी तक यहीं पड़ा है।' उसने कुछ आश्चर्य के साथ कहा—'विलियम, इतनी बार वह आया किन्तु उसे यह चित्र लौटाना याद ही नहीं रहा।' यहाँ चित्र को ध्यान-पूर्वक देखने लगा। 'विलियम की प्रेमिका कोई बहुत सुन्दर तो है नहीं, फिर न जाने वह क्यों इसके पीछे इस प्रकार पागल हो रहा है।' उसने एक गहरी साँस ली, फिर उस चित्र को मेज़ पर रख दिया और कीटाणुओं की वह छोटी सी नली उठाई। नली लगभग दो इंच लम्बी थी और तरल पदार्थ से लबालब भरी थी। उन्हें पतला करने की समस्या पर वह विचार करने लगा। 'यह भी कैसी विचित्र वस्तु है,' वह गुनगुनाया—'इतनी ज़रा सी शीशी और सैकड़ों मनुष्यों को उन्मत्त बनाने की शक्ति अपने अन्दर कैद किये है।' इसके बाद वह माथे पर हाथ रखकर सोचने लगा—'इसकी एक बूँद किसी उपयुक्त तरल पदार्थ की सौ बूँदों में मिलाई जाय, तब कहीं यह प्रयोग के लिए उपयुक्त हो सकती है।'

उसने बड़ी सावधानी से शीशी की डाट खोली और उसे अणु-दर्शक यन्त्र से देखा। कुछ देर बाद डाट बन्द करने लगा कि सहसा एक चीख उसके मुँह से निकल गई। डाट ज़ोर से दब गई और काँच की वह छोटी-सी शीशी हाथ में ही टूट गई थी। काँच का एक टुकड़ा अँगूठे में घुस गया, रक्त बहने लगा। वह तरल पदार्थ अँगुलियों में बह

गया। वह फुर्ती के साथ रूमाल उठाने के लिये मेज़ पर झुका और उसकी दृष्टि समीप रखे हुए लिली के चित्र पर पड़ी। उसने चित्र को उठा लिया और उन्मत्त की भांति उसे घूर कर देखने लगा। उसके सर में चक्कर-सा आ गया। वह आँखें मूँदकर पीछे कुर्सी पर ढुलक गया। कुछ देर पश्चात् उसने आँखें खोल दीं और प्रकम्पित स्वर में कहा—'लिली! लिली!' फिर अपने बालों को नोचते हुये बोला—'वैज्ञानिक, नहीं, नहीं......तुम नहीं, तुम वैज्ञानिक हो...तुम्हारा आविष्कार...' वह अचेतन हो गया। कुछ देर तक वह उसी प्रकार बेसुध कुर्सी पर पड़ा रहा, फिर उछल कर उठ खड़ा हुआ। ऐसा प्रतीत होता था, मानों उसमें दस व्यक्तियों का बल आ गया हो। वह चिल्लाया—'लिली! लिली!' और वही लाल ओवरकोट पहने घर से निकल पड़ा! अब उसने दौड़ना आरम्भ किया! कभी-कभी उसके मुख से निकल जाता था—'लिली! लिली!' वह लिली के घर की ओर दौड़ता चला जा रहा था। विलियम ने दूर से उसे इस दशा में देखा। वह वैज्ञानिक की इस दशा पर काँप उठा। उसने आवाज़ दी—"जेम्स जेम्स!"

किन्तु जेम्स दौड़ा चला जा रहा था। 'क्या मैं तुम्हें प्राप्त न कर सकूँगा, लिली! नहीं, यह कभी सही हो सकता।' विलियम के कानों में ये शब्द पड़े और उसने देखा कि जेम्स आँखों से ओझल हो गया। जेम्स सीधा लिली के घर पहुँचा। दरवाजे पर उसने कोठी के माली को देखा और उससे प्रश्न किया—'लिली कहाँ है?'

"वह तो अभी विदेश के लिए प्रस्थान कर चुकी है। कोई एक घंटा हुआ। शायद अभी तक जहाज़ छूटा नहीं होगा"—माली ने जेम्स को आँखें फाड़-फाड़ कर देखते हुए उत्तर दिया।

"अभी जहाज़ छूटा नहीं होगा!" जेम्स ने लड़खड़ाती हुई आवाज़ में कहा और बन्दरगाह की ओर दौड़ पड़ा। माली कठपुतले के समान वहीं पर खड़ा रह गया।

* * *

रात को बड़े ज़ोर की आँधी आई। वैज्ञानिक की प्रयोगशाला में मशीनें घड़घड़ाहट के साथ चल रही थीं। बाहर आँधी ने एक तूफ़ान का रूप धारण कर रखा था। प्रयोगशाला जन-शून्य थी। आँधी के झोंके खुली खिड़की से अन्दर आ रहे थे। दरवाज़ों की खड़खड़ाहट ने यन्त्रों की घड़घड़ाहट के साथ स्वर मिलाया। हवा के झोंके से बिजली के तार हिलने लगे। हिलने की वजह से बिजली के तार मिले। न जाने कितनी तेज़ विद्युत-शक्ति उनमें दौड़ रही थी कि तारों के मिलने से आग की लपट उनमें से निकलने लगी, मानों काँच में से निकलनेवाले नीले प्रकाश के साथ संघर्ष कर रही हो। लोगों ने थोड़ी देर के बाद देखा कि वैज्ञानिक की प्रयोगशाला में आग लग गई है। विद्युत द्वारा फैली हुई उस प्रचण्ड ज्वाला का कुछ भी प्रतिकार न हो सका और रात भर में वहाँ सब कुछ जलकर स्वाहा हो गया।

सुबह को विलियम ने अपने मित्रों को बताया कि जब मैंने जेम्स को उस विचित्र दशा में एक लाल-सा ओवरकोट पहने भागते हुये देखा और अपने आपको उसका पीछा करने में असमर्थ पाया, तो वहाँ टैक्सी तलाश करने लगा। टैक्सी बहुत देर बाद मिली। मैंने उसके मुँह से लिली का नाम सुन लिया था। वहाँ से मैं सीधा लिली के घर आया। वहाँ मुझे ज्ञात हुआ कि वह जहाज़ की ओर चला गया है। मैं भी वहाँ से जहाज़ के लिए रवाना हुआ। मैंने दूर से देखा जेम्स जेटी पर खड़ा चिल्ला रहा है—'रोको जहाज़' 'नहीं रोकोगे?' और जहाज़ किनारे से बहुत दूर पहुँच गया था। मैं और तेज़ी से आगे बढ़ा। फिर जेम्स ने चिल्लाकर कहा—'नहीं रोकते जहाज़? अच्छा तो लो, मैं वहीं······' मेरे मुँह से निकल गया 'तुम क्या करते हो जेम्स! देखो, तुम तैरना बिल्कुल नहीं···' इतने में जेम्स धड़ाम से समुद्र में कूद पड़ा। वह दो चार क्षणों तक सागर की लहरों के साथ अठखेलियाँ करता रहा। देखते ही देखते निर्दयी लहरें उसे निगल गईं।

जब जेम्स की जली हुई प्रयोगशाला की खोज की गई तो वहाँ और

सामान के साथ किसी धातु के चमकते हुई बहुत से सुनहले टुकड़े भ
मिले !-वैज्ञानिकों ने उसका निरीक्षण किया। निरीक्षण किए जाने-पर
वे शुद्ध स्वर्ण सद्ध हुए। विलियम ने जेम्स के उन दो नवीन आविष्कार
की बात वैज्ञानिक को बतला दी थी। उन्होंने बहुत खोज की वि
प्रयोगशाला में कोई ऐसी वस्तु मिल जाय, जिसकी सहायता से वे उन
दो नवीन आविष्कारों के विषय में अनुसंधान कर सकें, किन्तु वे अपने
प्रयत्न से सफल न हुए, और वे दोनों विचित्र आविष्कार संसार के
सदा को विचित्र लिये समस्याओं के रूप में ही रह गए।

डा० रघुवंश

मेहनत और मेधा का यदि कहीं भी आश्चर्यजनक समन्वय मिलता है तो डा० रघुवंश के व्यक्तित्व में। कलाकार स्वभावतः मेहनत से ज़रा दूर भागता है, लेकिन डा० रघुवंश हैं कि अगर उनके हाथ में कोई विषय आया कि फिर उस बेचारे की खैर नहीं। सुबह, शाम, दोपहर, रात रघुवंश जी लगे हुए हैं और बिना उसके रेशे रेशे उधेड़े, वे चैन नहीं ले सकते। इसी वर्ष उन्होंने 'हिन्दी काव्य में प्रकृति' पर बहुत गम्भीर थीसिस दी है, जिसपर उनकी मेधा शक्ति की आश्चर्यजनक छाप है।

प्रकृति ने उनकी डाक्टरेट ही नहीं वरन उनकी कला में भी एक विशेष स्थान बना लिया है। प्रकृति के विचित्र से 'इमेज' (कल्पना-चित्र) उनकी कहानियों के टेकनिक का आधारदण्ड बन गये हैं। कहानियों की टेकनिक में सर्वथा एक नया प्रयोग करने की दशा में रघुवंश जी को आश्चर्यजनक सफलता मिली है। फ्रेन्च सुररीयलिज्म (अति-यथार्थवाद) को बड़ी खूबसूरती से इन्होंने प्रसाद की कथा शैली में पिरोया है। इनके नए कहानी संग्रह 'छायातप' में ऐसी कहानियां संकलित हैं।

आप अब डी० लिट० के लिए रिसर्च कर रहे हैं।

बाबुल ! मोरो नैहरवा छूटो जाय

"मोहन ! अन्त में तुम आ गए ।" उसकी दुर्बल वाणी में प्रतीक्षा की उत्सुक वेदना उमड़-उमड़ कर फैल गई ।

"हाँ ! अनुराधा ।" उसके हृदय की आकुल उत्कंठा सैकड़ों मील की यात्रा की थकावट में जैसे खोई जा रही थी । वह सामने की कोच पर सहारा लेकर बैठा हुआ था और उसने अपने पैर छोटी मेज़ पर रख छोड़े थे । सफेद बिस्तर पर अनुराधा का दुर्बल शरीर था, जो साड़ी की उलझन में ऐसा खो गया था जैसे कुछ है ही नहीं । उसके पीले मुख पर आँखों के मार्ग से जीवन की संध्या झाँक रही थी । मोहन की आँखें कुछ क्षणों के लिए उसकी आँखों से मिल गई । उनमें था, दुःख की गंभीर छाया में निराशा की वैराग्य भावना के आवेगों के बाद बची हुई वेदना की चिर-स्मृति ।···प्रकृति के उठे हुये तूफान के बाद···उजड़े हुए उपवन में पेड़ों की शाखायें टूटी पड़ी हैं···लतायें पेड़ों से अलग होकर इधर-उधर बिखरी हैं···फल गिर गए हैं···फूल झर गए हैं···क्यारियाँ बिगड़ गई हैं···पक्षियों के घोंसले उजड़ गए हैं । और ठंडी हवा का झोंका आता है···उपवन को झीम झीम सिहरा जाता है ।

उसके लिए यह सब सहना कठिन हो गया । निश्चल निराशा,

जीवन के प्रति गहरी उपेक्षा और उसपर मृत्यु की छाया। इस भय का बोझ भार बन कर उसके हृदय पर अज्ञात रूप से बैठा जा रहा था। उसने घबराकर अनुराधा के सिरहाने की खिड़की से बाहर देखना चाहा। जैसे वह कमरे के वातावरण से बचना चाहता हो, परन्तु दृष्टि नीले परदे पर रुक गई। फिर तैरती हुई दृष्टि से उसने देखा—कमरा सुन्दर ढँग से सजा हुआ है, फर्श भी कीमती है। एक कोने में मेज़ पर ग्रामोफ़ोन रखा है, और कमरा नीले प्रकाश से गहरा हो रहा है। ऊपर बड़े बड़े आकार के फोटो टँगे हैं। वह सोच रहा था—'इतना ऐश्वर्य······और अनुराधा।'

अनुराधा के सामने एक लम्बे युग के बाद मोहन था। मोहन के मुख पर प्रौढ़ावस्था की छाया और थकावट ऐसी मिल-जुल गई थी··· जैसे वह जीवन में चलता आ रहा है—चलता जा रहा है और अविराम युद्ध में लगा सैनिक थककर भी लड़ता जा रहा है। उसकी तैरती आँखों में विवशता का ढीलापन था।···तूफानी समुद्र के आवेग में ऊँची ऊँची लहरों को देखने वाला नाविक, समुद्र शान्त होने पर अपने को केवल एक तख्ते के सहारे पाकर विवश, निरुपाय किसी किनारे का स्वप्न देख रहा है!

एक धीमी सी उसाँस में अनुराधा अपने हृदय की वेदना को ऊपर लाने का प्रयास कर रही थी—"अच्छा ही किया—आ गए। अब अधिक समय भी नहीं रहा। चला-चली का समय।" परन्तु हृदय की उमड़न उच्छ्वास के साथ ही फैलकर उपेक्षा की दार्शनिक गंभीरता में समा गई। ···हवा से उठी हुई तरंग समुद्र के विस्तार में विलीन हो गई। वह अपनी दृष्टि किसी चीज़ पर टिकाना चाहती थी।

"नहीं अन्नो! ऐसा कहीं कहते हैं। क्या तुम घर एक बार भी नहीं चलोगी।" वह कह तो गया, पर स्वयं भी नहीं समझ सका कि वह कहना क्या चाहता था। इन साँसों की चलती हुई गिनती पर वह किस प्रकार रोक-टोक लगा सकेगा। जीवन और मृत्यु के बीच अनुराधा को देख

कर वह वस्तुतः अकिञ्चन हो उठा है। अन्दर से कुछ कहने जैसी बात बार-बार आ रही है, पर वह कह नहीं पा रहा है। वातावरण गम्भीर होता जा रहा है और जैसे साँस लेने को हवा कम हो गई हो···दम घुट रहा हो। परन्तु एक आलस्य और थकावट की तन्द्रा उसको डुबोती जा रही है जिसमें वेदना की हलकी कसक खोई जा रही है।···झिलमिल-झिलमिल करती हुई चाँदनी में झील अपने विस्तार में लहरों के आन्दोलन के साथ खोई सी जा रही है।

और अनुराधा जीवन की गहरो छाया में मोहन को पाकर किसो अव्यक्त उमड़न का अनुभव कर रही थी, परन्तु उसके संचित अवसाद में सभी कुछ विलीन होता जा रहा है···संध्या के घने अंधकार में प्रकृति अपने रंग-रूपों के साथ मिटती जा रहो हो। वह किसी सूत्र को पाना चाहतो थी, जिसके सहारे इस गहरे वातावरण को कुछ हलका कर सके। परन्तु जोवन के छिन्न-भिन्न सूत्रों के प्रति उमड़तो हुई विरक्ति में वह उनको सँभाल-सँभाल कर भो सँभाल नहीं पा रही थी। भाव की इस असंयत स्थिति में वह किसी वस्तु पर दृष्टि जमाना चाहती थो। सामने की खिड़की के ऊपर टँगे हुए पति के चित्र पर उसकी दृष्टि ठहर गई, पर एक क्षण में ही जैसे विजली की करेन्ट ने उसकी दृष्टि को बाहर फेंक दिया हो।

नौकर परदे उठा गया था।

उसी समय बोझिल वातावरण में साँस लेने का प्रयास करते हुए मोहन ने जैसे कुछ कहने के लिए ही पूछा—"अन्नो! उनको क्या छुट्टी नहीं मिली।"

बाहर फैलते हुए अंधकार से मिलती हुई दृष्टि रुक गई—"वे! मोहन, उनको इस समय भी कहाँ छुट्टी मिल सको।" फिर भावों के झटके के साथ उसकी दृष्टि, सामने···संध्या के धुँधले अंधकार में काली छाया-रूप पहाड़ियों पर फैल गई। घनी छाया में उन पहाड़ियों पर पेड़ों के समूह व्यक्त हो रहे थे···बालू के मैदान टीलों के रूप में

पहाड़ियों से मिल रहे थे···और उनमें केवल आकार भेद था। पहाड़ियों की श्रेणी पर, नीले आकाश में बादल के छोटे छोटे टुकड़े लालिमा की आभा से चमक रहे थे। वह देख रही थी···पर देखने में आत्म-विस्मृति का भाव ही है। वह इस शून्य में अंधकार के समान ही फैली जा रही थी।·····पक्षी पर फैलाए, गोधूली के समय···शून्य गगन में उड़ता चला जा रहा है·····उड़ता चला जा रहा है·····हवा में पैंग भरते। पता नहीं किस नीड़ की ओर। और उसका मन भी आगे बढ़ रहा था।

* * *

प्रथम मिलन का अवसर है, सजे हुए कमरे में अनुराधा नववधू के रूप में बैठी है। लज्जा और संकोच से बोझिल उसका हृदव किसी की प्रतीक्षा में है। वह किसी अज्ञात आकाँक्षा और उत्कण्ठा में व्यग्र है। यह हृदय काँप काँप क्यों उठता है—और यह मीठा अवसाद कैसा छा रहा है—किसी अज्ञात के प्रति विचित्र आकर्षण और साथ ही अज्ञात भय की भावना·····ज्वार आने के पूर्व समुद्र की तरंगे अधिक तेज़ी से उठती और टकराकर मिट जाती हैं। परन्तु भय क्यों? वे तो सौम्य हैं—मुख पर उदारता का भाव है। उनकी आँखें सदा हँसती सी प्रतीत होती हैं। हाँ ऐसा ही तो। लैम्प मन्द मन्द प्रकाश फैला रहा है—लौ के हिल जाने से प्रकाश भी काँप उठता है···और उसका जादू जैसे प्राणों पर छाया जा रहा है···प्राण सिहर सिहर जाते हैं। उसी समय पड़ोस में रिकार्ड बज उठता है—

"बाबुलि! मोरो नैहरवा छूटो जाय।"

स्वरों में काँपता हुआ अवसाद उसके मन में समा रहा है और यह वेदना क्षण भर में उसकी समस्त चेतना को ढंक लेती है। पिछली स्मृतियाँ घिरती आती हैं और उनमें अज्ञात का आकर्षण मिट सा जाता है। उसका हृदय उमड़ आता है।·····झील के प्रशाँत जल पर चंद्रमा चमक रहा है···हवा का झोंका आकर पानी में लहरों की हलचल मचा

देता है—एकाएक लहरें टकरा टकरा कर टूट जाती हैं···चन्द्रमा उनमें विलीन होकर एक कौंध रह गया है···बस। उसकी आँखों से आँसू झर रहे हैं···और वह देखती है कोई अज्ञात सा चुपचाप खड़ा है।

* * *

"अम्मा! दवा पी लो समय हो गया है।" पलंग के सहारे १२ वर्ष की अंजनी माँ का हाथ धीरे से हिला रही थी।

अनुराधा ने आँखें खोल दीं। डबडबाये आँसुओं में स्वप्न खोये जा रहे थे—"अंजो! बेटी बहुत हुई दवा। अब नहीं पी जाती।" लेकिन उसने देखा अंजनी ने उसका हाथ ज़ोर से दबा लिया है। जैसे किसी अज्ञात आशंका से भयभीत हो उठी है। उसने हाँथ खींचकर उसे अपनी ओर झुका लिया और उसका मुँह चूम लिया—"पगली डरती है, मैं तो आज बहुत अच्छी हूँ। नींद बहुत आ रही है इसी से कह दिया था। ला! कहाँ है दवा? और फिर वहां अपनी पसन्द वाला रिकार्ड लगा दे। मेरी अच्छी अंजो।"

मोहन भी अपनी तन्द्रा में चौंका—उसने आँखें खोल दीं। सामने खिड़की के बाहर···बालू का असीम मैदान अंधकार में विलीन हो चुका था। नीले आकाश में तारे झिलमिल चमक रहे थे·········अस्थिर—चंचल। कोई काला पक्षी उड़ता हुआ निकल गया और दूर पर कोई मुसाफिर ऊँट पर जा रहा था जैसे कोई लम्बी काली छाया धीरे धीरे बढ़ती जा रही हो। उसने आँखें बन्द करलीं। उसी समय रिकार्ड बज रहा था—

"बाबुलि! मोरो नैहरवा छूटो जाय।"

अनुराधा ने दवा पीकर देखा—बाहर घना अँधेरा छा रहा था। उस अँधेरे से मिलजुल कर जैसे वह कुछ खोज रही हो, जैसे अँधेरे में सम होकर वह किसी पुरानी अनुभूति तक पहुँचाना चाहती हो। फिर इस अंधकार को अपने अन्दर बन्द कर लेने के लिए उसने आँखें बन्द कर लीं।

और रिकार्ड अब भी बज रहा था।

*　　　　*　　　　*

एक ओर से लहर उठती है, दूसरी ओर से लहर उठती है—दोनों टकरा कर, मिटकर, फिर लहरों के रूप में फैल जाती हैं। झील अपने नीले विस्तार में फैली है—उस पार बालू के छोटे बड़े टिल्ल समुद्र की लहरों के समान फैले हैं। क्षितिज की धुँधली फैली हुई रेखा पर खजूर के पेड़ के सिरे हिल जाते हैं। बस। दूसरी ओर आम-जामुन के बागों की हरियाली हवा के झोंकों में लहरा लहरा जाती है।

आज ५०० मील दूर इस गांव के इस दृश्य के साथ उसकी भावना सचेष्ट हो उठती हैं। जैसे वह अपने पिछले उल्लास में अपनी कसक को ढूँढ़ने के लिए उस ओर बढ़ रही थी।

एक नौका छप छप करती झील में बढ़ रही है। डाँड़ उसके हाथ में है और साथ में एक वृद्ध पुरुष हैं·····गोरा रंग, ऊँचा ललाट-बड़ी आँखें और सफेद बाल, सब मिलकर तेजस्वी लगते हैं। वह नाव खेते खेते थक सी गई है। माथे पर पसीना की बूँदें झलक रही हैं—तेज़ साँस से वृक्ष की धड़कन अधिक हो गई है। वृद्ध पुरुष ने मुस्करा कर कहा—"अन्नो! अब रहने दो। तू थक गई है। नाव को अपने आप पर छोड़ न दे।"

अनुराधा अपनी चंचलता में थकावट को छिपाती हुई कहती है—"नहीं बाबू जी! वह बालू वाला किनारा आ ही गया।"

पिता हँसते हुए कहते हैं—"बड़ी बहादुर है मेरी बेटी। वह भी कहीं थकती है। लेकिन किनारा आया न आया—काम तो नाव पर चलने से है।" फिर जैसे उनकी हँसी अपनी बात की किसी गम्भीर छाया में लोप हो गई।

अनुराधा चुपचाप बैठ जाती है। नाव थपेड़े खाकर हिल डुल रही है। वह कभी दो एक हाथ डाँड़ चलाती है और फिर बैठ जाती है। और उसी समय सामने के किसी टीले पर कोई गा रहा है—

"बाबुलि ! मोरो नैहरवा छूटो जाय ।"

गीत के थिरकते हुए कंपनों पर वेदना और विरक्ति के स्वर गूँज रहे हैं । अनुराधा तन्मय होकर सुन रही है । सारा वातावरण गीत से गूँज रहा है । लहरों में आकुल झील का विस्तार—बादलों पर चमकती हुई संध्या की लाली—रिल्लों पर आकाशी लालिमा की झलक—और इस ओर की घनी होती हरियाली—मानों सभी इस गीत के ध्वनि-प्रवाह में बह रहे हैं—बहे चले जा रहे हैं···पक्षियों के झुंड आकाश की एक रस नीलिमा में उड़ते चले जा रहे हैं । और अनुराधा की चेतना में जैसे यह गीत समाया जा रहा हो ।

गीत रुक जाता है, जैसे सारी प्रकृति क्षण भर के लिए ठिठक कर रुक गई हो । अनुराधा ने देखा—पिता की आँखों में आँसू छलक रहे हैं । वह जैसे चौंकी—"बाबू जी ।" पिता ने अपने को सँभालते हुए कहा "कुछ नहीं ।" और आँसू पोंछते हुए कहते हैं—"इस गीत में ऐसी ही बात है—तुम समझती हो अन्नों ।"

"नहीं पिता जी ।" लेकिन अब वह समझ रही है, उसने बात को हलका करने के लिए कहा—"लेकिन बाबू जी ! मोहन का कौन सा नैहर छूटा जाता है ।"

"मोहन ! वह तो पागल है । इस निरीह लड़के को प्रयत्न करके पाला, लेकिन देखता हूँ उसका मन काम-काज में नहीं लगता और पढ़ने-लिखने से तो उसे विरक्ति ही है ।···परन्तु बेटी ? हमारी ममता, हमारे मोह और प्यार का नाम ही तो नैहर है; और जब किसी अपरिचित अज्ञात के आकर्षण से उसे छोड़ना पड़ता है, तो प्रत्येक आत्मा अज्ञात वेदना और भय के स्वर में गा उठती है—"मोरो नैहरवा छूटो जाय ।" पिता ने एक निश्वास के साथ कह दिया । पन्द्रह बरस की अनुराधा सोच रही है—अपने चारों ओर फैली हुई मोह ममता की बात और किसी अपरिचित का अज्ञात आकर्षण । अंधकार के प्रसार में सारा दृश्य धुँधला हो रहा है ।

रेकार्ड बज चुका था ! अंजनी चुपचाप कभी 'माँ' को और कभी नवागन्तुक अतिथि की ओर देख लेती थी। किसी के आराम में बाधा न हो इसलिए वह बिलकुल चुपचाप थी जैसे कमरे की शान्ति के साथ मिल जाना चाहती हो। वह अपने अस्तित्व से कमरे को अलग समझना चाहती थी। वह कभी मैदान में फैले अंधकार में टिमटिमाते तारों से खेलने का प्रयास करती है—और कभी दूसरी खिड़की के बाहर पहाड़ी की अँधेरी छाया श्रेणी का अन्दाज़ लगाती हुई उन पर लुका-छिपी करती थी। फिर उसे लगा......इस निस्तब्धता में एक भय की भावना अदृश्य हो रही है। और वह आँख मीचना चाहती थी ! उसी समय 'मां' ने करवट बदली, उसने धीरे से पुकारा—"माँ।" परन्तु माँ ने कोई उत्तर नहीं दिया। अनुराधा को निद्रा में स्वप्नों की छाया थी !

* * *

कोठे की खिड़की पर अनुराधा मोहन के पीछे खड़ी है। मोहन बाहर के दृश्यों में खो रहा है और वह उसके खोयेपन को पाने में व्यस्त है। घनी हरियाली के आगे झील का नीला अस्तर फैला है। सारी हरियाली झूम रही है—झील भी अपनी लहरों के छायातप में सप्राण है। झील के पार-सुदुर बालू के रिल्ल चले गये हैं—जैसे सागर की लहरें किसी जादू से स्थिर कर दी गई हों—और रिल्ल सागर के ज्वार की चिरन्तन भावना से स्थिर हैं। अनुराधा मोहन की दृष्टि को पकड़ते हुए कहती है—मोहन भैय्या ! उधर क्या देख रहे हो—तभी बाबू जी साधू महात्मा कहते हैं—इधर देखो ! तुम ससुरे कब जाओगे।" उसने मोहन का हाथ हिला दिया।

मोहन चकित है—"कैसे ससुरे अन्नों।"

उसका हाथ हिलाती हुई अनुराधा कहती है—"हाँ हाँ—बोलते क्यों नहीं। उस दिन गा रहे थे, न—बाबुलि मोरो—।"

"अच्छा"। मोहन हलकी निश्वास लेकर बाहर देखते हुए कहता है—"मुझे कहाँ जाना है अन्नों ! नैहर तुम्हे छोड़ना है।"

"मैं क्यों कहीं जाने लगी !"

"ससुराल तो सभी को जाना होता है अन्नों।" वह बाहर ही देख रही है।

"नहीं जाना है मुझे ससुराल असुराल।" उसने मोहन का कन्धा ज़ोर से हिला दिया।

"हाँ, हाँ ! देखूँगा तुम हमारे घर कब तक रहोगी।" उसने बाहर ही देखते देखते कहा।

"हाँ हाँ ! देख लेना ? मैं अपने घर से कहीं नहीं जाती।" वह अभिमान से कह तो गई—लेकिन यह क्या सत्य है, वह रुक जाती है। वह विचार कर रही है—मोहन का घर न होकर भी यह घर उसका इतना अपना है और यह घर उसका है और उसका होकर भी बिलकुल नहीं है।···मोह ममता का नाम ही तो नैहर है—और जैसे कोई अज्ञात अपरिचित उससे उसे अलग कर रहा है। उसकी आँखों में आँसू भर रहे हैं; भावों की उमसन का अनुभव कर मोहन मुड़कर देखता है—उसकी आँखों में आँसू हैं—वह चकित है।

"अन्नों ज़रा सी बात में रोती हो ? हँसी में भी कोई रोता है। तुम्हें कौन कहाँ भेज रहा है।" वह उसे चुप करना चाहता है। परन्तु उसके हृदय की उमड़न आँखों से बरस रही है।

* * *

अंजनी भी अब औंघा गई थी। लेम्प का मन्द प्रकाश नीले शेड से निकल कर कमरे को स्वप्नलोक सा बन रहा था। बाहर अंधकार फैला था, जिसमें टिमटिमाते हुए तारों का क्षीण प्रकाश किसी रहस्य की सृष्टि कर रहा था। चारों ओर निस्तब्धता छाई थी। केवल दूर से किसी पक्षी का तीक्ष्ण स्वर आ जाता था। अनुराधा के मुख पर परिवर्तित भावों की छाया और पलकों में स्वप्न थे।

* * *

अनुराधा नव-वधू के वेश में अपने घर के द्वार पर खड़ी है। पिता

की आँखों में आँसू भरे हुए हैं और गला भी भर आया है—अनुराधा पिता से चिपट कर रो उठती है। भरे गले से पिता कह रहे हैं—"बेटी! हम इसी दिन के लिये तुम्हें बड़ा करते हैं। हमारे प्यार को आज अपने चरम पर परीक्षा देनी होती है। वह अपने त्याग में आज के दिन धन्य होता है। परन्तु मेरे हृदय में जो हा हा कार मच रहा है उसको मैं सँभाल हीं न पा रहा हूँ। तुम तो मेरे लिए बेटा बेटी सभी कुछ थीं।" अनुराधा अपने भार में व्यस्त है —रोने से जी हलका नहीं होता···जी चाहता है मन को रुदन में बहा दें। हृदय की उमड़न बार बार मन को ऐंठ देती है—वेदना का आवेग ऊपर आ रहा है।···यह सब कैसे होगा—झील-बाग—रिङ्ज कैम छूटेंगे और पिता—उनके बिना वह कैसे रह सकेगी किस अज्ञात अपरिचित के लिए।

पालकी में वह चली जा रही है, धीरे-धीरे झील दूर होती जा रही है—बालू के रिङ्ग दूर और दूर पर चमक रहे हैं। अब वह रो नहीं रही है—केवल भीतर से कोई गूँज उठती है और वह विकल हो उठती है। इस प्रकार वह चली जा रही है—और जैसे कोई अपरिचित अज्ञात आकर्षण उसे बरबस खींच रहा है। उसने सुना—दूर झील के किनारे कोई गा रहा है—

'बाबुलि! मोरो नैहरवा छूटो जाय।'

मोहन! हाँ मोहन ही तो। ओह! ममता—मोह के किसी बंधन को उसे छोड़ना पड़ रहा है। उसे कितनी विकलता है···और वह किसी अज्ञात आकर्षण से जैसे विवश हो।

* * *

वह चिहुँक उठी। कमज़ोर हृदय की गति तेज़ हो गई। भावों की तीव्रता को चेतना सहन न कर सकने के कारण डूबती जा रही थी। और उसमें स्वप्न वेग से अधिक अस्पष्ट और धुँधले होते जा रहे थे।

* * *

वही प्रथम-मिलन की रात है। आँसुओं के बीच में उसने देखा एक

अपरिचित व्यक्ति, उसका अज्ञात देवता। ओह—उसके सौम्य मुख पर तो जैसे व्यंग की रेखाएँ हैं, और वह कह रहा है—"देखो! मैं यह सब रोना-धोना नापसंद करता हूँ। यह देहातीपन मुझे नापसन्द है।" वह इस आघात से तिलमिला उठती है—वह चुप है पर उसकी आत्मा रो रही है।

* * *

कोई कह रहा है और वह सुन रही है—"जीजी। मैं तो फँसा दिया गया। मेरी तो ज़िन्दगी की खुशी ही ख़तम कर दी गई। मुझे बड़े-बड़े आदमियों से मिलना-जुलना—और कहाँ यह देहातीपन और यह सूरत।' वह आगे नहीं सुन सकती है—उसके हृदय में जैसे चारों ओर बिजली दौड़ गई हो। ओह—यही है वह अज्ञात अपरिचित आकर्षण—उसकी ममता और उसका मोह जैसे हृदय की गहराई में कसक बनता जा रहा हो। उसे याद आ रहा है—

बाबू जी उसके मस्तक पर हाथ रख कर कह रहे हैं—"मेरी फूल सी अन्नो—सती शरमिष्ठा जैसी सुयोग्य और सुन्दर है।"

* * *

"देखो जी! मैं साफ़ बात पसन्द करता हूँ। हम पुरुष हैं और तुम स्त्री—यह तुम्हें याद रखना चाहिए। हमको जो अधिकार है वह तुमको नहीं। मैं यही समझता हूँ और तुमको भी यही समझना चाहिए। मैं जिस पोजीशन पर हूँ तुमसे काम नहीं चलने का......।"

अनुराधा सिर नीचा किये सुन रही है; जैसे किसी उपेक्षा में वह अपने को भी भुलाना चाहती हो। पुराने कल्पना के रङ्गीन चित्रों को वह अपनी जाग जैसी ख़ुमारी में भुलाने का प्रयास कर रही है। परन्तु अंतिम वाक्य ने जैसे उसके आत्म-सम्मान को स्पर्श कर लिया हो।

"समझ ही रही हूँ। आगे समझने की ज़रूरत भी नहीं है।" वह बिना प्रयास के कह देती है।

"लेकिन तुम्हारे आँसुओं का मतलब मुझे मालूम है—और फिर यह पत्र उसका—" उसके मुख पर व्यंग की मुस्कान है। अनुराधा ने उत्सुक आग्रह से पत्र अपने हाथ में लेकर पढ़ा—अनगढ़ अक्षरों में लिखा है—"प्रिय अन्नो! हम लोगों को तुम्हारी याद बहुत आती है। तुम भी याद करती हो? अन्नो, कौन नैहर छोड़कर चला गया—तुम कि मैं। बाबू जी तुम्हारे बिना दुर्बल हो गए हैं। तुम्हारा—मोहन। उसी समय व्यंग को अधिक तीव्र करके कहा जाता है—"समझ गई—यह सब नहीं होगा—तुम्हें कुछ कहना है।"

अनुराधा वितृष्णा से मुँह फेर लेती है—अपमान से उसकी वाणी काँप रही है—"कुछ भी नहीं कहना है। आप समझ भी नहीं सकते। जाइए—"

* * *

हृदय की धड़कन और तेज़ हो गई थी। विकलता और आवेग बढ़ रहा था। क्षण भर के लिए चेतना आई और स्फुट स्वर में पुकारा—'मोहन! मोहन!!' फिर वह मूर्छा में अचेत हो रही थी। उसके कमज़ोर हृदय के लिए आवेगपूर्ण बात मना थी। उसका हृदय जैसे बन्द हो रहा हो और मूर्छा की छाया गहरी होती जा रही थी। अंजनी कुरसी पर सो रही थी। और मोहन स्वप्न देख रहा था—

"रेत का मैदान फैला है। वह यात्रा कर रहा है—ऊँट की पीठ पर चला जा रहा है—पहाड़ी काफी दूर दिखाई दे रही है। वह ज्यों ज्यों उस पहाड़ी की ओर बढ़ता जाता है वह पीछे खिसकती जाती है। अंधकार धीरे-धीरे फैल रहा है—और वह अंधकार में डूबती उस श्रेणी को पकड़ना चहता है। उस ओर से आवाज़ आ रही है—

"बाबुलि! मोरो नैहरवा छूटो जाय।" और वह उस आवाज़ को पकड़ना चाहता है। धच्चे-धच्चे ऊँट आगे बढ़ता जाता है। वह आगे पीछे हिलता जाता है—उसका मन उसी अज्ञात ध्वनि की ओर बढ़ता

जाता है—पर ध्वनि आगे ही बढ़ रही है। पहाड़ी श्रेणी भी अंधकार में डूबती जाती है—विलीन हो रही है।......और वह निराश-व्यग्र बढ़ रहा है। अंधकार में केवल एक ध्वनि रह गई है—मोहन। मोहन !! और मोहन उसी के सहारे आगे बढ़ रहा है।

श्री रामचन्द्र वर्मा

मोटे चश्में के अन्दर दो शान्त आँखें, और कुछ गोल से चेहरे पर एक हल्की सी उदासी। व्यक्तित्व बहुत ही सरल, लेकिन भावुकता जो छुई मुई-पन पर उतर आती है।

अध्ययन और हिन्दी किताबों का बेहद शौक़, लेकिन इतने दिनों तक नगर में रहने के बावजूद भी वे अपने ग्रामों को नहीं भूल पाए हैं। ग्रामीण जीवन के दृश्यों को लेकर लिखी गई आपकी कहानियाँ और लम्बी मुक्त छन्द की कविताएँ अनूठी हैं। इनमें ग्रामीण वातावरण का सोंधापन हैं और साथ ही ग्रामीण पात्रों की सीदी सादी मनोभावनाओं का प्यारा प्यारा वर्णन। कहानियों और कविताओं दोनों में घटना-क्रम की अपेक्षा चित्र-आलेखन की ओर अधिक ध्यान, इसी से वे कहानियाँ मुख्यतया स्केच बन गई हैं। हिन्दी में स्केच की दिशा लगभग शून्य सी है। शायद आपकी कलम उसे सँवार सके।

कुछ दिन पहले आप प्रयाग वि० वि० के हिन्दी विभाग में रिसर्च कर रहे थे। उसके बाद पटने में पत्रकारिता के क्षेत्र में चले गए, वहीं 'परिमल' भी स्थापित किया।

लोहिया

[इस कहानी को अधिक स्पष्ट करने के लिए दो बातें कहनी आवश्यक हो जाती हैं। पहली बात कहानी के कथा-वस्तु से सम्बन्ध रखती है। कहानी में कोई विशेष कथानक नहीं। इसके विपरीत केवल एक वातावरण का ही सृजन ही प्रमुख ध्येय है। सारी कहानी प्रतीक्षा की भावना पर विकासोन्मुखी है।

दूसरी बात है इसकी भाषा। कहना पड़ता है कि यह कहानी अवध प्रान्त की एक अनपढ़ ग्रामीण नारी का चित्र रंजित करती है। लेखक संस्कारवश इस ग्राम-लिखित कहानी में अवधी शब्दों का मोह नहीं त्याग सका है।

इस प्रकार की कहानी के प्रयोग में कहानीकार कहाँ तक सफल हुआ है वह विज्ञ पाठक ही देखें।]

क्वार मास की गोधूली वेला थी। सूरज की अंतिम ललाई क्षितिज की ओट में छिप चुकी थी। आकाश काला पड़ता जा रहा था। प्रभा-हीन चाँद के निकट एकाध तारे भी उग आए थे। धुँए की एक पर्त कुहासे सी सारे गाँव को चारों ओर से घेर कर मँडरा रही थी। वह छोटा सा समग्र ग्राम ईख, अरहर, रेंड़ आदि के खेतों से भरा लिपटा पड़ा था। पक्षी घोंसले में बसेरा ले चुके थे फिर भी कुछ बचे छुटे अपने

नीड़ की ओर जल्दी-जल्दी अग्रसर हो रहे थे। सारी ग्राम-डगर लगभग सूनी हो चुकी थी। खेत जोतकर कृषक बैलों के संग घर आ गये थे। गाँव के सभी ढोर भी वन से अपने अपने गृह को लौट आए थे। फिर बीच बीच में कभी कभी कोई अपनी राह जाता हुआ पथिक या गाँव को लौटता हुआ किसान परदेसिया या कहरवा टेरता हुआ अपने जाने आने की सूचना दे देता था और तब क्षण भर को सारी दिशाएँ कंपायमान होकर फिर नीरव पड़ जाती थीं।

आज लोहिया को बहुत अधिक काम करना पड़ा था। भोर से दोपहर तक वह ज़मींदार बाबू के खेत में धान काटती रही। जब वह दुपहरिया करने घर लौटी तो रास्ते में लाला मिल गए थे। उनके यहाँ सत्यनारायण बाबा की कथा थी। इसी सिलसिले में बिरादरी और ब्राह्मणों का एक विशाल भोज भी नियोजित किया गया था। लोहिया को वे अपने घर लिवा ले गये और पक्की डेढ़ पसेरी गोजई उसके बहुत चिरौरी मिन्नत करने पर और कल बड़े तड़के तक पीसकर लाने पर किसी तरह बड़ी देर बाद खूब झक झक बक बक करके राज़ी हुए, पटवारी भैया थे, बड़े आदमी थे, किसी का करम तक संवार बिगाड़ सकते थे। धरती के राजा थे। बेचारी लोहिया डौला भर अनाज के भार से लदी दबी अपने घर आई। तब से वह अपनी झोपड़ी के अन्दर से टट्टर खोलकर बाहर तक न झाँकी। तिजहरिया बेला में जब ज़मींदार का सिरवार उसे काम पर बुलाने के लिए आया तो उसने जाँता रोक कर वहीं से उससे चिल्लाकर काम पर न आ सकने का कारण जता दिया। और कोई होता तो वह लोहिया को घसीट कर ले जा सकता था पर लाला भैया के काम के बीच में पड़कर अड़ँगा डालना उसके सामर्थ्य से बाहर था इसी कारण वह चुपचाप बड़बड़ाता हुआ वहाँ से दूसरी मज़दूरिन ठीक करने को चला गया।

फिर लोहिया के काम में किसी तरह की बाधा पहुँचाने कोई भी न आया। अब वह मगन मन होकर अपने उस अकेलेपन में चक्की चला

रही थी। उस चक्की को घरर घरर ध्वनि लोहिया को उसकी उस घास फूस की राम मड़ैया से बहुत दूर तक खींच ले गई। उसका एक हाथ जांते की मूठ पर था और दूसरा हाथ गोजई और चक्की के छेद में नृत्य कर रहा था पर उसका मन किसी कल्पनात्मक स्वप्न-जगत की ओर छोर नापने में व्यस्त था। वह अधिक देर तक शान्त न रह सकी। उसके अधर फड़के फिर होठों पर सरल मुसकान की एक रेखा खिंच गई और उसके मुख पर अपने बचपन में अपनी माँ से सुना हुआ एक सोहर अनायास आ गया और वह गाने लगी।

'सोवत रहली मै अपने अँगनवा,
सपन इक देखेउँ हो,
सासू सपना कै करउ विचार,
सपन बड़ सुन्दर हो॥

वह गाती गई। अपना काम करती गई। पीसती गई। साँझ आई। अँधियारी बढ़ने लगी। पर उसको इसकी कुछ भी सुधि न हुई।

एकाएक बाहर से किसी ने टट्टर भड़भड़ाना प्रारम्भ किया। थोड़ी देर बाद जब उसके कानों में इसकी भनक पहुँची तो हड़बड़ाकर जाँता छोड़ उठ खड़ी हो गई। गीत को कड़ी अधूरी ही छूट गई। जाकर टट्टर खोला देखा चरकर आई हुई गैया टट्टी तोड़कर अन्दर आने की चेष्टा कर रही थी। उसने गाय को संभाला। पति को वहीं से कई हाँक दी पर मक्कू का कहीं पता न चला। पति पर भुनभुनाती हुई गाय को पकड़ कर घारी में बाँधने को ले गई। सारी में जाकर देखा कि बछवा राम बड़े मजे से धबरे बैल की अनुमति से उसकी नाद की सानी चाट रहे थे और बैल महाशय निश्चिन्त हो भरा पेट ले बैठ कर पागुर कर रहे थे। दूसरा कलुआ बैल खड़ा खड़ा पगहे की पूरी लम्बाई में फैल बछवे की ओर स्नेह पूर्वक निहार रहा था। लोहिया ने गाय को सारी के एक कोने में उसके खूँटे से ले जाकर बाँध दिया। बछड़े को भी पकड़ कर दालान की दूसरी ओर जहाँ कि वह नित्य चरागाह से आने

पर रात भर बँधा रहता था, बाँध दिया।

लोहिया गाय को इस डर से कि छोटा बछवा कहीं दुबला न हो जाय सिर्फ एक जून सबेरे दुहाया करती थी। फिर उसके यहाँ दूध पीने वाला था भी कौन ? उसकी गृहस्थी में कुल जमा जोड़ दो ही तो प्राणी थे। एक वह और दूसरा उसका पति मक्कू। लोहिया को दूध से घृणा थी। उसको तो दूध फूटी आँखों भी नहीं सुहाता था। हाँ! मक्कू को दूध भला लगता था सो वह सबेरे गरम दूध और बासी रोटी खा पी कर अपने काम पर—गाँव के मवेशियों को चराने चला जाता था। दूध दुहने के बाद चटपट चरवाहा मक्कू खरमिठाव कर अपनी गाय और बछड़े को भी अपने साथ डहर हाँक लेजाता था। शाम तक ये दोनों और पशुओं की भांति उनके साथ उसी ढाक के जंगल में इधर-उधर घूम फिर कर चरा करते थे और फिर संध्या को मक्कू के साथ साथ और जानवरों के संग अपने घर आते थे।

पर आज गाय और बछड़ा दोनों चर कर घर आ गये थे लेकिन मक्कू अभी तक न आया। लोहिया गाय को खली और सानी चलाकर उस ओर से छुट्टी पा गई थी। दोनों बैलों को एक घड़ी रात बीते फिर कोयर भूसा देने की आवश्यकता थी। अब फुर्सत पाकर लोहिया को पति की चिन्ता ने आ दबाया। वह अन्यमनस्क हो उठी। आख़िर वे कहाँ चले गये ! वह बाहर आई। टट्टर की कुन्डी बन्द की। दरवाजे से चार छ आवाज़ लगाई पर कोई उत्तर न मिला। पास पड़ोस और गाँव के सभी ऐसे घरों में जहाँ उसके जाने की सम्भावना थी वह जाकर देख आई। पण्डित जी के दरवाजे के बरगद के नीचे कुछ लोग बैठ कर गांजे का दम लगा रहे थे वहाँ टोह ले लिया। राह में जो ही छोटा बड़ा मिला सब से पूछ लिया पर कहीं कुछ भी पता न चला। निदान वह अपने घर लौट आई। थोड़ी देर और अगोरा पर वह तब भी न आया।

अब तो वह किसी अज्ञात आशंका की कल्पनाकर भय से सिहर उठी।

आख़िर उन्हें हो क्या गया जो अभी तक घर नहीं लौटे। रोज तो शाम ही को गोरुओं के साथ घर आ जाते थे और फिर जब कहीं बाहर जाना होता था तो मुझे ख़बर करके जाते थे। लेकिन आज! आख़िर बात क्या है?

वह घर में अधिक देर तक न ठहर सकी। टाटी की कुन्डी चढ़ा डमरू का तरकारी वाला बेढ़ा पार कर गाँव से निकल कर बाहर आ गई।

चित्रा नक्षत्र की हलकी चाँदनी चारों ओर छिटकी हुई थी। निर्मल आकाश में तारों की पंक्ति पुरइन पर जलकण के समान शोभित हो रही थी। पवन में कुछ शीतलता की फुहार थी। पृथ्वी पर ओस पड़ते रहने के कारण नमी आ गई थी। थोड़ी थोड़ी सरदी पड़नी आरम्भ हो गई थी। ताल, तलैया, गढ़ई, गड्ढों में बरसाती पानी इकट्ठा हो आया था। चारों ओर श्यामलता विहँस रही थी।

पर लोहिया को यह सब देखने, सुनने और अनुभव करने का ज्ञान कहाँ? उसके तो रोम रोम से पति के पुकार की गूँज मुखरित हो रही थी। अब वह मेड़ पर थी। उसके एक ओर अरहर और बजरे के खेत थे और दूसरी ओर ईख अपनी शैशवावस्था में खड़ी थी। वह दोनों को चीरती हुई उन्हीं के बीच छिपी तीव्र गति से बढ़ी चली जा रही थी। आगे विस्तृत बञ्जर जमीन थी जिस पर ढाक के पेड़ विशेष रूप से उगे थे। अरूसे की झाड़ियाँ भी दृष्टिगोचर होती थीं। पेर, बबूल और सिंघोर ऐसे जंगली पेड़ भी विद्यमान थे। दूर तक देखने पर आम, नीम और महुए के भी दर्शन हो जाते थे। पृथ्वी को काट काट कर किसानों ने कुछ खेत भी बना लिये थे जिनमें इस समय बहुत से खाली पड़े थे और कइयों में धान के विरल पौदे दीख पड़ रहे थे। ऊसर के तल पर ही सीधे पूरब की ओर एक बड़ा ताल था जो आजकल बरसाती पानी से लबालब भरा हुआ था। ताल के किनारे के जल को ऊँची ऊँची नरई ने घेर रखा था। फिर किसानों ने अपने

मनोरञ्जनार्थ इस में सिंघाड़े भी बो दिये थे जो अब तोड़ने योग्य हो गए थे।

एक बार आजकल ही के दिन मक्कू इसी ताल में डूबते डूबते बचा था। लोहिया इस घटना को तब से कभी भी न भुला सकी थी और मक्कू को ताल में नहाने से सदा मना करती आई थी। पर अक्सर वह उसके चुपके इस ताल में जाकर नहा लिया करता था जिसका पता लोहिया को बाद में चल जाया करता था और वह मक्कू पर क्रुद्ध भी होती थी।

आज लोहिया अनायास ही इस ताल के किनारे आ खड़ी हुई। झिल्ली और झींगुर की झंकार उस मूक बेला में गुञ्जरित हो रही थी। मच्छरों ने लोहिया के पैर में काटना प्रारम्भ किया। वह ताल के चारों ओर किनारे किनारे चुपचाप चक्कर काटने लगी पर वहाँ पर कोई भी नज़र न आया। फिर वह दक्षिण की ओर मुड़ पड़ी। सामने वह पलाश-वन था जहाँ मक्कू गाँव के पशुओं को चराया करता था। वह निःशंक भाव से वन में घुस गई। चारों ओर निपट सन्नाटा था। उसने कई बार पति को पुकारा। पर वायु से केवल उसी ध्वनि टकराती रही किसी और की प्रतिध्वनि न उठी। फिर वही नीरवता की तरंगें। अब वह दबी हुई मरी घासों की लीक पकड़ कर गाँव की ओर चल रही थी। जंगल पीछे छूट रहा था। दाँए बाँए कटे या पके धान अथवा ईख, अरहर आदि के लहलहाते खेत खड़े थे। कुछ पर्ती खेतों की जुताई समाप्त हो चुकी थी और कुछ में गेहूँ, चना, मटर आदि के बीज भी डाल दिये गए थे। टेढ़ी मेढ़ी मेड़ों ने उसे एक आम के बाग के निकट ला पहुँचाया। उसने सामने देखा कि कौवों की एक विस्तीर्ण टोली जल्द ही कटे हुए धान के खेत में विराजमान थी। वह उसी खेत में से होकर चलने लगी। समग्र कौओं ने काँव काँव कर उड़ना आरम्भ किया और जाकर बाग के पेड़ों के ऊपर मँडराना शुरू किया। काँव-काँव से सारा वातावरण भर गया। बाग के आगे बाईं ओर की कच्ची

टूटी पुलिया पार कर लोहिया ज़मीदार के खलिहान की ओर बढ़ी। वहाँ अभी तक राशि इकट्ठा करने का काम हो रहा था। लालटेन की मन्द ज्योति दूर से ही परिस्थिति का बोध कराए देती थी। पुआल के अलग अलग कई ऊँचे ऊँचे टीले ऐसे ढूह से खलिहान की सारी जमीन भर सी गई थी। दूर से सिखार ने जो कि वहाँ काम करा रहा था लोहिया को पहचान कर पुकारा—

'क्या है री मक्कू बहू ! इधर कहाँ से आ रही है !' पास आकर लोहिया से कहा।

'काका ! आज अभी तक वे घर नहीं आए। उन्हीं को खोज रही हूँ। तुमने तो उन्हें कहीं नहीं देखा।'

सिखार—'नहीं इधर तो वह नहीं आया' कह के धान की ओसाई में लग गया। लोहिया चलने लगी। सिखार वहीं से चिल्ला कर बोला 'देख कल सुबह तुझे काम पर आना है।' लोहिया बिना रुके 'अच्छा' करके गाँव की ओर बढ़ने लगी। थोड़ी देर जाकर उसके कान में गाँव के पश्चिम ओर से, चिल्लाने की ध्वनि सुनाई पड़ने लगी। वह उसी ओर पलट गई। पास जाकर देखा कि गाँव के लोग एक जुते हुए खेत में झाबर खेल रहे थे। वहाँ उसने चारों ओर दृष्टि घुमाई पर मक्कू कहीं भी नज़र न आया। उसके मन में विचार आया कि 'कदाचित् वह अब तक घर आ गया हो और उसकी राह देख रहा हो। वह दिन भर का भूखा है, थका हारा है और उसने अभी तक आग भी नहीं जलाई है। कब से वह इधर उधर मारी मारी फिर रही है। वह कितनी देर तक रही है।' यह सब सोचते ही वह सीधे घर की ओर भागी। उसने अपने से कुछ दूर पर देखा कि मक्कू गाँव की ओर बढ़ा जा रहा है। उसने वहीं से ज़ोर ज़ोर से आवाज़ दी। वह रुक गया। वह दौड़ती हुई उसके पास पहुँची। देखा वह ननकू था जो दूर से बिल्कुल मक्कू की तरह लगता था। उसकी आँखों को धोका हुआ था। पास आने पर ननकू ने कहा—

'क्या बात है रे।'

'कुछ नहीं बाबा' वह भौचक्की सी खड़ी हो गई।

ननकू की परछांई ठीक उसके मुँह पर पड़ पड़ रही थी इसी से वह उसके मुख-मुद्रा की व्यग्रता न भाप सका। बात बदलते हुए उसने पूछा 'घर ही तो चल रही है न !'

हाँ और कहाँ जाऊँगी।'

'अच्छा चल।'

दोनों साथ-साथ हो लिये। आगे ननकू और पीछे लोहिया। रास्ते में ननकू जिन-जिन प्रश्नों का उत्तर माँगता था लोहिया उन उन बातों का छोटा सा उत्तर दे दिया करती थी। वह शीघ्रातिशीघ्र घर पहुँचना चाहती थी। काश। वह चिड़िया होती।

पर बूढ़ा ननकू बड़ा बातूनी था। वह कहना अधिक सुनना कम पसन्द करता था। लोहिया को जैसे समझाते हुए वह कब से कह रहा था 'आजकल नंगे पाँव घूमना ठीक नहीं। साँप शीत चाटने बाहर निकलते हैं। अधिक देर शीत में रहना भी ख़तरे से ख़ालीनहीं। मौसमबदल रहा है। बीमार हो जाने का डर रहता है। मुसई के नाती को आज दस दिन से बड़का बुख़ार आ रहा है।' लेकिन वह इतना ही कह करके रुका नहीं। अब वह गाँव की और पता नहीं कहाँ कहाँ की इधर उधर की खबरें लोहिया को सुना रहा था। लेकिन उसका जी ननकू की बातों में बिल्कुल न लगा। बीच बीच में वह ननकू का मन रखने के लिए उसकी बातों पर एकाध बार हुँकारी भी भर लेती थी पर अपनी ओर से उसने उससे कोई भी बात न की। उसने ननकू को यह तक न बताया कि वह मक्कू को खोज रही थी। भला उसके क्षीण कंठ में इतना कहते सुनने की साध्य बाणी कहाँ ? उसके पास इस बेकल अन्तस्तल के अपने उठते भाव प्रकट करने का व्यर्थ समय और माध्यम कहाँ ! अब दोनों मोड़ पर आ गये थे। ननकू का मकान यहीं था। वह लोहिया से बिदा हो अपने घर में घुस गया। लोहिया अकेली ही रह गई। यही तो वह

शुरू से ही चाहती थी। ननकू से वह अपना पल्ला छुड़ाकर दौड़ती हुई अपने घर को ओर भागी। उसके हृदय में आशा और भय की अद्भुत लालिमा थी और उसके मुख का भाव अजीब रंग का हो गया था। टट्टर के समीप पहुँचकर ही उसने दम लिया। ईश्वर का नाम लेकर उसने टाटी की ओर देखा। जैसे कि वह उसकी साधना की बहुत बड़ी परीक्षा थी पर उसने टट्टर की कुण्डी बाहर से जैसा कि वह उसे बन्द कर छोड़ गई थी ठीक वैसा ही पाया। उसका हृदय धक करके एक दम बैठता हुआ प्रतीत हुआ। उसने अनुभव किया कि अब वह एक दम शून्य है, बिल्कुल अशक्त है। उसमें इतनी हिम्मत नहीं कि वह कहीं और जा सके। वह वहीं धम से बैठ गई। पसीने की लकीर उसके शरीर पर खिंची हुई थी वह बड़ी जोरों से हाँफ रही थी। उसके दिल की धड़कन तेज हो गई थी। कुछ क्षण उपरान्त वह वहाँ से उठी। फिर उसने बाहर से दरवाज़ा खोला। उदास मन लिए वह घर के अन्दर गई सारा घर सूना-सूना सा पड़ा था। छोटे से आँगन की चाँदनी का उजाला अमरूद के पेड़ से छनकर ओसारे में भी प्रतिबिम्बित हो रहा था। फिर भी काफ़ी अँधियारा था। उसने एक चुभती हुई नज़र घर की सभी पड़ी हुई वस्तुओं पर डाली। लगभग सब चीजें इधर उधर छिटकी पड़ी थीं। पर उसने उन समस्त वस्तुओं को सहेजने और चुनने की रञ्चक मात्र भी चेष्टा न की। वे ज्यों की त्यों पड़ी रहीं। चक्की पर दृष्टि जाते ही उसके मर्म पर एक गहरी ठेस लगी। सारे दिन की पिसाई के बाद भी अभी थोड़ा सा अनाज उसके पीसने के लिए बच रहा था। उसे रात भर के अन्दर पीसकर सुबह तक मुंशी जी के यहाँ पहुँचाना आवश्यक था। चाहे किसी के यहाँ कोई मरे चाहे जिए लाला को तो अपने काम से मतलब। इतना खटने पर भी ठीक से मजदूरी देते तो उनकी नानी मरती है। पर कुछ भी हो लोहिया तो अब उस बन्धन में फँस चुकी थी। उसे किसी भी दशा में अनाज को पीसकर समाप्त करना नितान्त आवश्यक था। उसे अपनी इस विवशता पर रुलाई आने लगी। वह उठी और जाकर

जाँता चलाने लगी। आँसू बहते गए। उसके पास इन्हें पोंछने का अवकाश कहाँ? वह तो जैसे उनसे खेल रही थी। आज तीसरी वेला में भी उसने वही चक्की चलाई थी। पर उस समय की भाव-धारा और इस समय की भाव-संस्तति में महान् अन्तर था। तब तो वह रंग विरंगी तितली के साथ मनोहर उद्यान-प्रसूनों का वैभव चुराती फिरती थी, पंख वाली परियों की रानी थी। और अब? इस समय तो वह अनन्त नीरव तम-आकाश में संगी-विहीन लघु गौरैया की भांति भयभीत अकेले छटपटा रही थी। उसकी वह पहले वाली सारी शक्ति एकदम मृत-प्राय हो गई थी। भावना के पंख पर उसे अधिक दूर तक उड़ा न सकते थे। वह सत्य के अधिक निकट थी। संसार और जीवन के समीप थी। वह तो जैसे चेतन से जड़ हुई जा रही थी।

उसे रह रह कर मक्कू पर बड़ा क्रोध आ रहा था। वैसे मक्कू गाँव की परिभाषा के अनुसार कोई] बुरा आदमी न था। उसकी कोई बुरी लत भी न थी। वह सब को प्रसन्न रखने का प्रयत्न किया करता था। इसी से सभी उसे मानते थे। लोहिया को भी वह बहुत अधिक चाहता था। पर आज लोहिया मक्कू को एक भिन्न दृष्टि कोण से देख रही थी। मक्कू में सब बुराइयाँ कूट कूट कर भरी पड़ी हैं, अच्छाई एक भी नहीं। कब से वह नैहर जाने को आतुर है पर वह उसे टालता रहता है। उसकी ढँड़िया घिस गई है उसने अभी तक उसकी मरम्मत उसके लाख बार कहने पर भी नहीं करवाई। जंगल में दिन भर निखट्टू ऐसा घूमा करता है। यह नहीं होता कि गाय के लिए एकाध बोझ घास छील लिया करे। यह भी उसी को करना पड़ता है। सब के धान कट गये; गाँव वालों ने जुताई बुवाई शुरू कर दी और उसके यहाँ खेती का सभी काम सदा से पिछड़ा रहता है। उनको किसी बात की चिन्ता नही। चाहे घर बार बने या बिगड़े। जब बहुत उकसाए जायँगे तो काँख कूँख कर किसी तरह कोई काम शुरू करेंगे नहीं तो बड़े मजे से हुक्का और चिलम चढ़ाए मौज किया करेंगे, बड़े धुन में आए तो विरहा या परदेशिया

अलापना शुरू करेंगे और घर घर जाकर डींग हाँकेगे। और दूसरी ओर वह हैं जिसे मरने को भी दम नहीं। घर और बाहर का सारा काम उसी को करना पड़ता है। खाना बनाओ, माँजो सैंतो, कूटो पीसो, मजूरी करो, बेगारी करो, बैलों को सानी पानी चलाओ, गाय बछड़े का इन्तजाम करो। यह करो वह करो। दुनिया भर के काम ही काम। आखिर वह मर क्यों नहीं जाती? उसे दुनिया में कौन बड़ा सुख बदा है। जनम भर दूसरों के आगे ही तो हाथ पसारना है। फिर उसका भाग्य तो उसी दिन फूट गया जिस दिन उसका अढ़ाई वर्ष का बालक मर गया।

उसे अब अपने लड़के की सुधि हो आई। वह गोल गोल प्यारा प्यारा सा मुखड़ा, कजरारी आँखें, माथे का ढिटौना, छोटे छोटे हाथ पाँव की अंगुलियाँ, वे दतुलियाँ, वह हँसना, किलकारी मारना, तोतली भाषा में बोलना; घुटुरुअन भागना, कभी बकईंया और कभी खड़ा होकर चलना आदि उस बालक के जीवन का सारा चित्र ज्यों का त्यों उसके दृगों के सामने आ गया। आज उसकी वह अनुपम निधि नहीं है। काल की कठोर भित्ति से टकरा कर वह चूर चूर हो गई है। वह फूट पड़ी। साँसों से गरम होकर स्मृति की संचित जल धारा बह निकली। वह उसी में डूब गई, तैरती और उतराती रही।

चक्की चल रही थी पर उसके हृदय की धड़कन जाँते की 'घरर घर' से भिन्न थी। चक्की की वह मधुरिमा उसमें कहाँ, वह सामञ्जस्य स्मृति की कसक में कहाँ, पीड़ा की व्याकुलता में कहाँ?

चौदह वर्ष की बहुरिया होकर वह एक दिन इस घर में आई थी। तब सास ससुर थे। नई नई उमंगें थी। चहल पहल था। पग पग पर सुभीता था। वह बहू थी। सदा गहनों से लदी रहती थी, झाँझ झमकाती हुई घर में इधर उधर और कभी कभी गाँव में स्वच्छन्दता से घूमा फिरा करती थी—कोई कुछ कहने वाला न था। बूढ़े ससुर को यही सबसे बड़ी साध थी। वह पूरी हो गई थी। घर का काम बहू नहीं करने

पाती थी, सब बूढ़ी सास ही करती थी। वह गर की ज्योति थी। ससुर उसके हाथ की चढ़ाई चिलम पीकर निहाल हो जाता था, सास रात को सोते समय उससे पैर दबवाकर अपना भाग्य सराहती थी। तब वह सज धज कर गाँव की अन्य स्त्रियों के साथ गाती हुई मेला देखने जाती थी। वहाँ अपनी रुचि के अनुसार टिकुली, शीशा, चोटी, सिन्दूर आदि खरीदती थी। उसमें नया उत्साह था, वह भरी थी। और आज वह सारा खेल समाप्त होकर अतीत का बन गया। बहू लोहिया बन गई, जीवन कठोर सत्य का केन्द्र हो गया और समय ने लोहिया को सब कुछ चुपचाप सहना सिखा दिया।

उसे याद हो आया कि एक बार बहुत दिन हुए वह बड़े ज़ोरों से बीमार पड़ी थी। गाँव में प्लेग फैला था और उसे ताऊन की गिलटी निकल आई थी। उसके बचने की कोई आशा न थी। बहुत ओझाई फुँकाई हुई थी। सास ससुर ने उसकी बहुत सेवा की थी और उन्हीं के पुण्य प्रताप से वह बच भी गई।

वह सोचने लगी 'अच्छा होता कि वह तभी मर जाती। इतना सारा दुख उसे देखना तो न पड़ता। अथाह वेदना-तलैया में उसे भँवरी तो न काटनी होती।' उसे अपने ही ऊपर क्रोध हो आया। अपने अस्तित्व रक्षा से उसका विनाश उसे सुख कर लगा। इसी में उसका समस्त कल्याण निहित था। पर वह ऐसी ही तो अभागी है। नहीं तो भला वह काल के मुँह में से कैसे निकल आती!

एकाएक उसे मक्कू की फिर सुधि हो आई। 'मालूम होता है उन्हें कुछ हो गया है। नहीं तो अब तक वे ज़रूर घर आ जाते।' वह सशंकित हो उठी। इतनी रात गए वह किसके दरवाजे खटखटाए, किसकी मदद ले। किसे सहायता के लिए पुकारे? सब सुख की नींद सो रहे होंगे। आखिर तब वह अकेले क्या करे? कैसे ढूँढ़े? कैसे उन्हें पाए? असहायावस्था में वह मनौती मनाने लगी। यदि वह राज़ी खुशी घर आ जाएँगे तो बेल-दैत्य बाबा को वह कल चार आने का प्रसाद चढ़ाएगी।

दो एक वर्ष के अन्दर कड़ाही भी ज़रूर दे देगी।

अब तक उसका आँसू-कोष रिक्त हो गया था पर उसे उसका भान न हुआ। वह तो अभी तक बहकी हुई थी। भावुकता की पराकाष्टा पर आज जैसे वह सब कुछ नाप लेना चाहती थी। उसने अपने सारे जीवन की एक समीक्षा करने की ठानी थी, उसका सिंहावलोकन करने को तुली थी। गत जीवन की धूमिल उलझी लकीरों को स्पष्ट कर उन्हें सुलझा लेना जैसे उसके लिए आवश्यक हो गया था। पर वह किसी निर्णय पर न पहुँच सकी। उसका पति बार बार उसके आगे आकर उसका लक्ष्य मिटा देता था, उसके हृदय-पटल पर अकस्मात् उदित होकर उसकी सारी स्मृति-भवना का धूम्रकेतु बन जाता था और फिर उसके अपने जीवन के सुख दुख का समग्र चित्र घुल कर पति के ही चिन्तन में खो जाता था।

चाँदनी खिसक कर उसके शरीर पर आ पड़ने लगी थी। आँसू का सूखा प्रवाह जम कर उसके कपोलों पर फैला चमक रहा था। रजनी की सारी चहल पहल चक्की की आवाज़ में ही घुल मिल गई थी। लोहिया बेमन चक्की चला रही थी।

एकाएक उसने अनुभव किया कि डौले की सारी गोजई ख़तम हो चुकी थी। फिर वह पैर को झाड़, जाँता छोड़, उठ खड़ी हो गई। उसे कोई विशेष प्रसन्नता नहीं हुई। अपने तन की सुधि की। वहाँ पाया कि वह एकदम थक कर चूर है। नसें चढ़ आई हैं। अब आगे कोई कार्य नहीं कर सकती। उसे आराम चाहिये। पर उसके मन को चैन कहाँ! उसे आराम कहाँ? अभी तक वे नहीं आए। लेकिन वह उनको इस समय कहाँ कहाँ जा जाकर खोजे। यह ताब उसमें कहाँ? उसने एक अँगड़ाई ली। जम्हाई भी अपने आप आ गई। शरीर का बोझ कुछ कम हुआ पर जी की उद्विग्नता बिल्कुल न गई।

अब वह आँगन में आ खड़ी हुई। उसके बदन से प्रस्वेद निकलना बन्द हो गया था। ठंड बढ़ गई थी। चाँद बाहर के नीम के पेड़ की

ओट में छिप गया था। आकाश में सघन तारे उग कर टिमटिमा रहे थे। चतुर्दिक मूकता उदासी सी फैल गई थी। साँय साँय की भनभनाहट उसके कानों के समीप जैसे विहाग सी गूँज रही थी। इस समय वह अशान्ति में भी मौन, झंझा लेकर भी बलहीन और प्रलय दबा कर भी चुप्पी साधे खड़ी थी। मटमैली साड़ी का फटा आँचल न जाने कब उसके सिर से नीचे गिर गया था इसकी याद उसे न हुई। वह एक टक अपने में लीन थी। विचार-सागर में उठ गिर रही थी। पति के आगे अपना सब कुछ हार कर खो गई थी। फिर वह कुछ भी न समझ पाई, कुछ भी न निश्चय कर सकी।

इसी समय किसी के पैरों की आहट उसको अपने घर के समीप सुनाई पड़ी। वह मृगी सी चौकन्नी हो गई, अपने आप को सँभाल लिया। उसी ओर कान लगा पद-ध्वनि सुनने लगी। गाँव के कुत्ते भूँकने लगे थे। वह टटिया की ओर मुड़ पड़ी। कदाचित वही हों। पग-आहट ठीक उन्हीं के जैसी है। हृदय का वेग बढ़ गया। आवाज़ और पास आती गई। फिर किसी ने वेग से टाटी खोला। लोहिया निश्चल थी। उसके हृदय का स्पन्दन रुक गया था। शरीर के सारे अंग किसी जादू के जोर से स्तब्ध होकर जकड़ से गए थे। आँखें खुली की खुली रह गई थीं। कंठरिन्ध्र सजग से हो गए थे। यह सब जैसे लोहिया के जीवन मरण का प्रश्न था, उसके इस समय के अँधियारे गृह में दिया जगमगाने का प्रश्न था, चूल्हे में आग जलाकर पति के लिए मकुनी और नेनुए का चोखा बनाकर आह्लाद से परोस कर खिलाने और इतनी देर कर आने का कारण पूछने का प्रश्न था, रात को उस झिलँगहिया बँसखट पर लेटे हुक्का पीते पति का पाँव पलोटते हुए अपनी आज की सारी प्रतीक्षा-कहानी कहने और मान-मनुहार प्रदर्शित करने कराने का प्रश्न था और फिर पति के समीप सुख से मुदित मन हो सोकर अब तक की सारी व्यथा और श्रम भुलाने का प्रश्न था। इतनी देर में लोहिया न जाने कहाँ से कहाँ बहक गई थी। यह वह स्वयं न जान सकी। सभी देवी

देवता उसे रह रह कर याद आ रहे थे।

फिर कोई धड़धड़ाता हुआ अन्दर आया। रुक कर ओसारे के एक कोने में पनही उतारी, लाठी खड़ी की और तब आगे बढ़ा।

एकाएक चाँद के क्षीण प्रकाश में लोहिया ने देखा कि वह मक्कू था। हाँ! उसी का पति मक्कू था जो बेलदैत्य बाबा की कृपा से सही सलामती घर वापस लौट आया था। उस ग्राम-कथित उत्तरी सीमा के बेल वृक्ष में निवास करते निराकार देवता के आगे लोहिया के प्रसन्न एवं सन्तुष्ट हृदय का प्रतीक उसका मस्तक श्रद्धा से अपने आप आनत हो गया और वह सुख से पुलक कर पसीज उठी।

श्री वाचस्पति पाठक

अगर साहित्य का माध्यम कलम न होकर वाणी होती, अगर कहानियाँ लिखी न जाकर बोली जाती होतीं तो शायद पाठक जी अपने ज़माने के सबसे ज्यादा लोकप्रिय कलाकार होते। नफ़ीस खद्दर की पोशाक, लम्बा क़द, ओंठों पर मुस्कुराहट और मुँह में जमा हुआ पान; तीर्थराज प्रयाग का इतना लम्बा प्रवास भी काशी की छाप मिटा नहीं सका है।

पाठक जी को कहानियाँ लिखे एक ज़माना हो गया। तब, जब प्रसाद जी जीवित थे और राय कृष्णदास, वाचस्पति पाठक और प्रसाद जी की मैत्री पारिवारिक घनिष्ठता से होड़ लेती थी; तभी पाठक जी ने कहानियां लिखी थीं और उन दिनों कहा जाता था कि कहानियों के क्षेत्र में प्रसाद जी की क़लम पाठक जी को मिलेगी। लेकिन प्रकाशन की व्यस्तता ने प्रतिभा से सृजन का अवकाश छीन लिया।

लेकिन पाठक जी की अपूर्व कृति है भारती-भण्डार, जिसने हिन्दी के प्रकाशन क्षेत्र में एक आदर्श उपस्थित किया है और यह दिखला दिया है कि हिन्दी में ही उच्चतम साहित्य को कैसे जन-प्रिय बनाया जा सकता है।

'परिमल' के नवीनतम सदस्य होते हुए भी पाठक जी के मन में 'परिमल' के लिये नवीनतम ठोस योजनायें हैं और अत्यन्त क्रियाशील उत्साह!

सूरदास

(१)

आठ बजे रात; बाम्बे मेल मानिकपुर स्टेशन से खसक कर धीरे-धीरे फिर वेग से बढ़ बहुत दूर चला गया। सूरदास अभी तक प्लेटफार्म पर ही खड़ा था। कुछ देर में जब वह कोलाहलपूर्ण वातावरण नीरव हो उठा, तब उसने एक निश्चिन्तता की साँस ली, और दक्षिण की ओर चल पड़ा।

उसके मन में आज के पैसों का हिसाब, और उस शून्य प्लेटफ़ार्म पर, रात भर जलने वाले बिजली के खड़े स्टैन्ड, उनकी बत्तियाँ, इधर-उधर ऊँघते आदमी और पहियेदार दूकानों से जड़ी नीरवता की कल्पना, एक साथ सन्तोष दे रही थी।

वह सदैव इसी समय लौटता था। सुबह दोपहर और सन्ध्याकाल उसकी प्रतीक्षा में कोलाहल से परिपूर्ण रहते। उसकी आशा गीतों में चंचल हो आलाप बना करती। रात जब मेल चला जाता और किसी दूसरी गाड़ी के आने की सम्भावना न रहती तब सुख की साँस छोड़ता हुआ सूरदास कन्धों पर लदी अपनी गृहस्थी संभालता क्वार्टरों की ओर चल देता। जहाँ वह अपने रात्रि-विश्राम और भोजन की व्यवस्था करता।

चाँदनी भरी रात थी। लाइनें दूर तक चमक रही थीं। बीच-बीच में सुफ़ेद और लाल लालटेनों के प्रकाश उस दृश्य में जैसे खड़े थे। उस नीरव प्रकाश में अन्धकार-सा सूरदास चला जा रहा था।

सूरदास !—

काली—! कहता, सहसा वह रुक गया।

सूरदास अपने को ढीला कर रहा था। उसका हाथ पकड़े काली खड़ी थी। जिसके वे छोटे हाथ उसको स्मृति में आज भी वैसे ही प्रिय थे। उसको अपने निकट जान कर उसने पूछा—

कुछ खाया रे तू ने ?

अभी कहाँ सूरदास !—और तुमने कुछ पाया ?

हाँ—रे,—कहता, वहीं ज़मीन पर बैठ कर, पैसों की अपनी थैली उसने खोल दी।

उसमें लगभग सवा रुपए के फिरते रहे होंगे। कुछ की सफ़ेदी भी चमक रही थी। सूरदास चाव से दिखा रहा था। किन्तु एक ठंडी साँस की आवाज़ से सजग होकर वह पहले ही बोल उठा।—तू भी तो खायगी काली ! जो जी चाहे ले आ। मैं भी जल्दी छुट्टी पा लूँ।

न !—मैं तो वैसा कुछ खाऊँगी नहीं। तू जो बताये ला दूँ।

सूरदास क्या जाने क्या सोच रहा था किन्तु उसकी बात सुन कर वह नाराज़ होने के स्वर में बड़बड़ाने लगा।

वही रोज़ की आदत ! वह कभी न छूटेगी ! घर-घर माँगकर खाना। उस पर पैसों से जीभ भी खराब करना !—हैं, हैं—फिर अब चल दी।

काली ! ओ काली ! अरे ओ ! मेरी कसम लौट आ।

उसे जब उसके लौटने की पदध्वनि सुन पड़ी, तब वह चुप हुआ। कुछ क्षण मौन रह कर उसने उसके आने की प्रतीक्षा भी की। उस समय उसके वह एक-एक पग गिन रहा था। वह अब पास थी।

आ, आ—अरे मेरे पास तो आ। सूरदास हाथ बढ़ा कर उसे पकड़ रहा था।

कहो न ! मैं क्या सुनती नहीं नहीं हूँ ?

मुझे न डाँट ! पहिले सुन तो ले !—कहता, अब की सूरदास ने उसे पकड़ लिया ।

नाराज़ हो गई । अच्छा मेरी ग़लती । रोज पैसों की खराबी समझ कर ही कह रहा था । काली.........।

वही रोज़ की बात । जब कोई खाने को दे देता है. तो क्या करूँ ? पर, सरेशाम का खाया ही रहा जाता है ? इस लिए शाम को कुछ खाकर पानी पी लेती हूँ । पर अब तो मैं तुम से कुछ न लिया करूँगी ।

भला री, कलिया ।—हा-हा—सूरदास ने हँसकर कहा ।—अभी तू वही बच्ची है न ? भूल गई ?—अभी उस दिन तक मेरे पैसे लिये बिना कहाँ मानती थी ? मेरे देने पर भी जब तेरी माँ तुझे मारने उठती थी—तब तू उसका कहना मानती थी ? अरे, तुझे दो गहने हो जाते और हो जाती तेरी शादी, फिर भले ही अपने घर जाकर मुझ पर नाराज हो लेती ।

सूरदास एक ठंडी आह भर कर उसे बच्चे की तरह लिपटा कर जैसे मनाने लगा । उसकी काली को कल्पित बालिका मूर्ति को भेदकर काली का यह नवीन दृढ़ और आतुर यौवन अपने अस्तित्व का परिचय कब दे पाया था ? सूरदास उसी बालिका को राज़ी कर देना चाहता था ।

ओह.....गहने ? मेरे अब तक के सूने हाथ ! मुझे गहने की ज़रूरत क्या ?

तो तू आज उलहना देती है । तूने कहा कब ? ले लेना । अब तो खुश है । अच्छा अब जा, पैसे ले और जैसा चाहे कर आ । नहीं तो तुझे देर होगी । मैं तेरी राह भी देख लूँगा ।

सूरदास अपने मन में देख रहा था । काली अपनी चंचल गति से मचलती चली जा रही है । उसकी पदध्वनि में ही बंधा उसका मन भी जैसे चला जा रहा है । आह ! अब वे दोनों नहीं मिलते ! फिर भी उसको सन्तोष था ।

वह बैठ गया। सिर्फ थोड़े से पैसों में उस हठी बालिका को मना लेने से उसे कैसी साँत्वना थी! सूरदास का पुलकित प्राण फूट पड़ा। वह गा रहा था—प्रतीक्षा कर रहा था।

(२)

सूरदास के हृदयाकाश में कभी कलंकी चाँद उदय नहीं हुआ। वही द्वितीया के चाँद जैसी छोटी सी बालिका, अपने कलरव से उसे मुखरित किये रही। सूरदास के अन्धकारपूर्ण हृदय पर विजय प्राप्त कर सचमुच उसकी कल्पना का विकास कहाँ हो पाया?—वही काली!—जिसके कुछ अटपटे—छिटके बालों के बीच एक छोटे-से हँसी-से फूटे मुख की कल्पना की मूर्ति जैसी उसके हृदय में प्रथम परिचय के दिन अंकित हुई, आज भी उसके हृदय द्वार को, खोल कर कोई देख ले कैसी अम्लान वह चित्र-कला है!

कितनों ने ही व्यंग किये।—सभी तो कहते थे—काली, नहीं, कलिया आवारी है! बदमाश है! वह लुच्चे-लफंगे लड़कों के साथ बीती रात तक ही-ही कर खेला करती है? न जाने कितने खराब हो रहे हैं? सूरदास के कारण ही उसे ज्यादा कुछ कोई कहता नहीं? नहीं तो ऐसी लड़की कहीं अधिक रह पाती?—

सूरदास जब जब ऐसी बातें सुन पाता उसका मन इन विद्रोहियों के प्रति घृणा से भर उठता। कैसे हैं ये प्रपंची आदमी? एक निरीह-माता-पिता से हीन बालिका को किलकारी भर कर हँसने भी नहीं देना चाहते।—और उस एक बात को तो सुनकर उसे अपने ही प्राण मसल देने की इच्छा होती। 'सूरदास भी तो……।' वह भीतर ही भीतर निर्जीव हो उठता। वह प्रतिवाद भी कहाँ कर पाता? वह हृदय दबा कर रह जाता।

सूरदास के निरीह जीवन को अपनी वैभव उन्मादिनी किलकारी की निर्विकार वरमाला पहनाकर जगत में जिसने उसको गौरव के महोच्च शिखर पर बिठा दिया था—आहा!……उसकी कल्पना सूरदास के

हृदय में नित्य नवीन थी। किन्तु, वह एक निर्दय सन्ध्या ? सूरदास उस बालिका के लिए उद्विग्न हो उठा।

चार दिनों के बाद आकाश खुला था। तीन दिनों तक एक क्षण का भी बिना विश्राम लिए गिरनेवाली बूँदों की आवाज़ उस दिन सबेरे नींद टूटने पर सूरदास ने नहीं सुनी। फिर भी उसकी आँखों के सामने का अन्धकार गहरा था। इधर काली को भी न पाकर उसके मन में अन्धकार ठोस होकर जम रहा था। सूरदास मेढ़कों की बढ़ी हुई आवाज के भीतर डरे हुए एक बालक की भांति चंचल था।

दोपहर के बाद कुछ प्रकाश की गर्मी पाकर सूरदास ने अपना सामान सँभाला और अपनी छड़ी से अन्दाज करता स्टेशन की ओर चल पड़ा। वह स्टेशन पर पहुँचा ही था कि फिर बादलों के घोष उसके कानों में पड़े। साथ ही वायु की सरसराहट कितने ही वृक्षों के मर्मर से भिंदी अपने तीव्र वेग में थी। सूरदास जो प्लेटफ़ार्म पर आकर बैठा था उसके लिए ये उपद्रव बड़े ही अनिष्टकर हुए। वह उधर बरामदे की छाया में छिप कर बैठने के लिए चल पड़ा।

बड़ी ज़ोरों की वर्षा फिर आरम्भ हो गई। सूरदास बरामदे में दीवार से सटा पड़ा था। वर्षा ने दम भी नहीं लिया। धीरे-धीरे रात भी उन्हीं बूँदों में उतर आई।

आह ! डार्लिङ्ग ! कहाँ जाती हो !

आई, डगलस ! वह सूरदास ही तो है। ज़रा मिल लूँ। सूरदास चौंक उठा। वह उसकी काली ही की तो आवाज़ है। और—डगलस ......? वह काँप उठा।

सूरदास, तू क्या करता है ? ......आह ! बड़ी गर्मी है ? तू अपने डेरे की ओर भी तो नहीं जा सकता ? अरे तू काँप रहा है ?

सूरदास उसके प्यार से चिढ़ गया, शोखी से घबरा गया, और उसकी सहानुभूति नागिन के विष की तरह लहर देने लगी। वह तो एक तीव्र गन्ध से और भी व्याकुल हो रहा था।

उसने पूछा—तू ने शराब पी है ?

सूरदास आश्चर्य से पूछ रहा था। वह उसके दोनों हाथ पकड़े था। और उसके मुँह को अपने पास से हटा देने के लिए उसे हटा रहा था। किन्तु उसका एक बोझ था जिसे उसने आज पहली बार जाना। खीझ कर उसने डाँटने के स्वर में कहा—काली !

नहीं·····नहीं ! वही थोड़ी सी ! बड़ी अच्छी चीज़ है। सूरदास ! तू भी पियेगा ?

चुप-रे-चुप !—सूरदास कुछ डाँट कर कह रहा था।—और यह डगलस···? वही बदमाश ड्राइवर ?

ओह·····डगलस बड़ा अच्छा है सूरदास ? वह मुझे सब गहनें बनवा देगा। तुम फिकर न करो।

आह···डार्लिङ्ग ! देर न करो ?

आती हूँ डगलस ! अब मुझे जाने दो सूरदास ! मैं तुझसे फिर मिलूँगी। डगलस···डगलस वह तो बड़ा अच्छा आदमी है। वह अभी ही तो मुझे उन लुचों से छुड़ा लाया है। कहता है—मेरी गरीबी काट देने के लिए वह रुपए देगा ! हाँ—सूरदास जाती हूँ।···छोड़ दो।

सूरदास को आँखों से आँसू गिर रहे थे। वह जोरों से उसके हाथ पकड़े था। वह उसे बचा लेना चाहता था। उसे अपनी ओर खींचते हुए, कहने लगा।

ना-ना, तू बची है। जानती है—डगलस है बदमाश ! तू कहाँ जायगी रे ?

ना-ना, मैं अभी आती हूँ।···देखो वह···है।

तू क्यों खींचता है इस मेरी बच्ची को ?···हाय रे···। सूरदास चोट खाकर गिर पड़ा।

अब वह सुन रहा था।

हा-हा···मेरी बरसाती में तुम आ जाओ ?···वह···हाँ···क्या···?

सूरदास जैसे नीद में आ गया था। किन्तु वह क्षणिक बेहोशी थी।

वह जल्दी ही होश में आ गया। उसके सामने अब केवल एक शून्य अंधकार साँस भर रहा था। और भी वही झिम··झिम··कड़··कड़· वह भी चिल्ला उठा—काली ?

कुछ नहीं। वह अपने ही आप बोल उठा—डगलस ले गया। वह भी हरामज़ादी······! ओह······? वह फूट फूट कर रोने लगा। बिलकुल बच्चों की तरह सिसक-सिसक कर चिल्ला-चिल्ला कर। उसके मुँह को धोती हुई, कपड़े पर बिछल कर वे झरझर गिर रही थीं आँसू की बूँदें !

(३)

सूरदास जैसे अंधकार में से निकला हो ! उसकी ऐसी ही नींद टूटी थी। सूरदास स्वयं इस नींद को जग कर सोचने लगा। कैसी स्तब्ध और शून्य जैसे मृत्यु थी ! वह इतनी सुन्दर है ? तभी तो—जैसे एक युग बीत गया हो ! अपने जिस प्रत्यक्ष में वह उस अन्तिम पल में सोया था—वह कितनी दूर है ? जिसे वह पाता नहीं, किन्तु स्मरण है। वही तो—न जाने कितनी उत्तेजना में वह दैत्य की तरह बरसात के उस बीहड़ मार्ग को रात में तैकर अपनी छाजन में आ गया। ऐसा तो उससे और कभी हुआ नहीं। पर जो उसे एक नया डर था कि कहीं कोई उसे देख न ले ! वह कहाँ किसी से सामना करना चाहता था ? उसके सामने अब जैसे सम्पूर्ण घटना स्पष्ट थी।······बाहर काली··हाँ··दुष्ट डगलस ···।—उसके भीतर जैसे बज उठा। उसकी आँखों में अपने आप फिर आँसू आ गये।

इसी समय तो वह पहले उसके पास आकर खड़ी होती थी। वह कलेवा के लिए पैसा देता था। वह काली को सोचने लगा। केवल उसकी हँसी, बातें करना—उसी का चलना-फिरना—उसी में वह जैसे डूब गया। उसके मन में वह प्राचीन अतीत कितना सजीव और प्रत्यक्ष था। उसे जैसे कहीं आना है न जाना। वह चुपचाप वहीं पड़ा था। उसने उठने की कोई भी चेष्टा न की। सब कुछ भूल गया था।

बच्चों की तरह पड़े-पड़े जमीन पर लकीरें बनाता हुआ वह फिर सोचने लगा।—किन्तु, वह···ओह! उसने मेरा भी कहा कहाँ माना? वह भी तो पाजी है। सब का कहना ठीक है। वह तो खुद ही मुझ से हाथ छुड़ाकर भाग गई। उँह·····मुझसे मतलब? मैं क्यों सोचता हूँ उसको? एक ठण्डी साँस भर वह चुप पड़ रहा। किन्तु वह जैसे अब निर्जीव था। पर फिर आ गई उसकी ही याद! जिसमें वह गोते खा गया। उसकी मौजों में बहने लगा। किन्तु ज्यों ही उसका तार टूटता वह असक्त और जीवन हीन हो जाता था। किन्तु उसका मन कहाँ मानता था? न जाने कैसे फिर वह उसी मादक कुण्ड में जा पड़ता। उसकी पीड़ा नशे में जैसे हँसने लगती, प्राणों में उन्माद और हृदय में लहरें छा जातीं।

दुख से उसका कलेजा फट गया था। पर, उसमें से उसकी ही स्मृति उबली चली आती थी। कितनी—अनजान में उसने संचित की थी! जिससे ही तो वह अवकाश न पाने पाता। उसी में वह पड़ा रहता तो कैसा सुन्दर होता! पर, डगलस! क्रोध और घृणा—उसकी साँस रुँध जाती। उसी पाजी ने उसे शराब पिलाया था। तभी तो वह नशे में आ गई। आह···! उसका सब कुछ काँप उठा। वह सोच रहा था। उसने कितना कष्ट दिया होगा। अब वह पछताती होगी। किसी पेड़ की छाया में बैठ कर वह सोचती होगी—मैंने क्या किया?—घुटने के बीच उठे हुये हाथों पर उसका मुख होगा। पसीने से उभरे कंधों और गले पर उसके बिखरे बाल चिपक रहे होंगे। और उसकी आँखों में भरे होंगे आँसू। जिसको एक एक बूँद टूट कर गिर रही होगी उसके अँचल में। इस चित्र के साथ ही उसकी आँखों की राह धारा फूट पड़ी। उसे शीत कँपा देने लगा। वह धीरे-धीरे बेहोश हो गया।

वह बुखार में पड़ा था। एक सुबह जब वह जगा तब उसे क्या पता था कितने दिन पर वह उठ रहा है! वह एक दम निर्बल और दयनीय हो गया था। एक लज्जा का आवरण फिर भी सजीव था। उसकी

स्मृतियाँ दुर्बल पड़ गई थीं। मन का चित्र धूमिल पड़ गया था। न जाने कैसी निरीहता ने उसे घेर लिया। वह अपने ही से छिप कर रहने लगा। कभी सुबह शाम को वह स्टेशन पर जाता। वह भी जैसे छिप कर। किसी कोने में चुपचाप बैठ जाता। कभी किसी से कुछ माँगता नहीं। वह भूल गया था भीख माँगना। लोग कुछ पूछना चाहते, कहते —सूरदास !—वह निरे बहरे की तरह घूम कर चल पड़ता कभी किसी की न सुनता।

वह जैसे जीवन का बोझ उठाये, धीरे-धीरे चल रहा था। वह था बोझ ढोने वाला मज़दूर। उसके मन में कोई कल्पना न थी, हृदय में आनन्द न था—आँखों में नींद भी नहीं थी। सारी रात वह जैसे शून्य में दौड़ा करता।

ऐसे ही में पिछले पहर की एक रात किरनों से बिंध कर लाल हो रही थी। सूरदास का मन थक कर जैसे गिर रहा था। उसी समय किसी के आने की आवाज़ उसकी प्रतीक्षा को जगाने लगी।

वह और भी बिछौने में सिमट रहा था।

—सोते हो सूरदास !

सूरदास चुप था। जैसे नींद में हो। वह अपने विश्वास को दृढ़ कर रहा था।

सूरदास—?

तुम हो काली ?—उसने वैसे ही पड़े रह कर धीरे से कहा।

हाँ—मैं हूँ सूरदास ?—उठो न ?

सूरदास एक मरीज़ की तरह उठ कर बैठ गया। यही है—काली ? उसके भीतर की प्रतिमा मलिन थी। फिर भी वह ठीक मूर्तिपूजकों की तरह अपनी भावना को दृढ़ कर रहा था। उसके अन्तर से सम्पूर्ण चित्र धुल रहा था। अब केवल एक परिचित बालिका की हँसी और कलरव उसके उस जीर्ण हृदय में उदित हो रहे थे। आह ! वह जैसे उसे पाने के लिए दौड़ जाना चाहता था।—उसने दृढ़ स्वर में पुकारा—काली !

काली उससे चिपट गई थी। उसकी आँखों से बरबस निकल कर न जाने कितनी बूँदें सूरदास के रूखे मुँह को धोने के लिए उतावली हो रही थीं। किन्तु लहरों की तरह उमड़ती अपनी रुलाई को रोकते हुए सूरदास कहने लगा—हट, हट, भूखो लड़की ! यहाँ क्या है, कुछ तेरे खाने के लिए भी तो लाऊँ।—कहता, वह उठ खड़ा हुआ।

प्रभात की उज्ज्वल किरणों में सूरदास आज बहुत दिनों पर स्टेशन की ओर भीख माँगने चल पड़ा।

श्री विजयदेव नारायण साही

परिमल के प्रारम्भिक प्रमुख सदस्यों में से एक। प्रयाग विश्व-विद्यालय के अंगरेजी में एम० ए० करने के बाद काशी विद्यापीठ में अध्यापक। इस समय 'काशी परिमल' के संयोजक।

राजनीति और रोमांस का विचित्र सा समन्वय। सुबह से लेकर रात को १२ बजे तक मज़दूरों की सभाएँ हैं और इनके जोशीले भाषण। लेकिन फिर भी व्यक्तिगत जीवन में कहीं भी राजनीति की जटिलताएँ नहीं और साहित्य में एक विचित्र सा निखरा हुआ सौन्दर्य और मधुराई।

मीठी रसीली कविताएँ, मर्मस्पर्शी एकांकी नाटक और कलात्मक कहानियाँ। फारसी और उर्दू मुख्य भाषा रही इसलिये हिन्दी में भी वही रवानी और निखार! कहानियों और एकांकी के क्षेत्र में आपसे बहुत आशाएँ हैं, लेकिन इधर समाजवादी लाल झण्डे के कारण साहित्य निर्माण कुछ श्लथ सा है।

प्रहरी

खड़े होकर प्रहरी ने प्राचीर पर तलवार टेक दी और अभ्यस्त स्वर में पुकारा, 'रामसिंह, चैन से सोता है संसार ?'

कुछ दूर से अन्धकार को भेद कर अभ्यस्त सा उत्तर आया 'माँ, अनन्तशक्ति की छत्रच्छाया में !

प्रहरी ने तलवार उठाई और फिर टहलने लगा। ठहरे हुए अन्धकार ने इस आकस्मिक प्रतिध्वनि को सोख लिया और फिर वही, प्राचीर के नीचे अन्धकार को टटोल टटोल कर बहती हुई कृष्णा की अविराम गुनगुनाहट और प्राचीर के ऊपर जाड़े से ठिठुरते हुए हाथों को रह रह कर रगड़ते हुए समरसिंह की पदचाप। सहमी हुई सी इन क्षीण ध्वनियों से खामोशी और भी खामोश मालूम होती थी। समरसिंह ने एक बार ऊँचे पर खड़े होकर अँधेरे में सोई हुई पहाड़ी को देखा। दूर क्षितिज की वृक्षमाला अब भी अस्पष्ट और अन्धकारमय थी। उसके मुँह से निकला, 'चाँद निकलने में काफी देर मालूम होती है।' और उसने अपना कम्बल फिर से कस कर लपेट लिया।

अनन्तगढ़ जाड़े में सिकुड़ा हुआ सो रहा था। प्रहरी सोने वालों की आत्मा बन कर दुर्ग की चेतनता की रक्षा कर रहे थे। समरसिंह के अभ्यस्त पैर मानों अपने आप टहल रहे थे। वर्षों से वह प्राचीर के

कण कण की पहरेदारी करता आ रहा था—वह और उसका चिर सहचर रामसिंह !

समरसिंह के पैर पूरब की ओर बढ़ चले। आगे दुर्ग की अधीश्वरी माँ अनन्तशक्ति का मन्दिर था। एक टिमटिमाते दीप के चारों ओर प्रशस्त कोट में अन्धकार फैला हुआ था। कोट के आगे प्राचीर पर रामसिंह खड़ा हुआ शायद कुछ सोच रहा था। माँ अनन्तशक्ति दुर्ग की आत्मा थी। उनका मन्दिर दुर्ग वालों का सर्वस्व था। आज तक कोई बाहरी मनुष्य मन्दिर अथवा मन्दिर के कोट में पैर न रख सका था—और यही अनन्तगढ़ वालों की आन थी।

समरसिंह अपने बुर्ज की ओर लौटा। सहसा पीछे से रामसिंह ने पुकारा। 'समरसिंह !'

समरसिंह ठिठक गया। रामसिंह ने आकर उसके कन्धे पर अपना हाथ रख दिया और काँपती हुई साँस खींच कर बोला 'समरसिंह, जाड़ा है, आग जलाओ। कम से कम अकड़ा हुआ लहू तो पिघल जाए !'

समरसिंह स्वयं भी ठिठुर रहा था। उसने कहा, कुछ घास फूस या लकड़ी जमा करो। यहीं बैठेंगे।'

रामसिंह ने कहा 'चलो तुम्हारे बुर्ज में चलें।'

समरसिंह ने एक बार चारों ओर देखा, फिर कहा, 'नहीं यहीं बैठो; मन्दिर और बुर्ज दोनों की पहरेदारी होती रहेगी।'

शीतमय से भरे हुए अन्धकार में आग में आग की छिटकती हुई रोशनी काँपने लगी। रामसिंह और समरसिंह तलवारें रख कर बैठ गये। अकड़ी हुई देह कुछ ढीली हुई। खून गर्म होकर फिर दौड़ा ! हथेली से आग ताप कर समरसिंह ने अपने गालों को रगड़ा; गले को एक बार साफ किया और कहा 'पद्मपुर के कुमार अभी यहाँ और कितने दिनों तक रहेंगे ? है कुछ खबर ?'

रामसिंह कुछ ठहरा, फिर बोला, 'कुछ पता नहीं चलता।'

समरसिंह ने बात को जारी रखा, 'पद्मपुर और अनन्तगढ़ में जितनी

भिन्नता है वह किसी से छिपी नहीं है, फिर भी कुमार किसी न किसी बहाने से यहाँ अतिथि बन कर आया ही करते हैं—यह बात तुम्हें खटकी नहीं कभी !'

रामसिंह हिचक रहा था। उसने धीरे धीरे कहा 'समरसिंह हम सिपाही हैं। राजों महाराजों की छान बीन करके अपने ऊपर बला मोल लेने से अधिक और क्या कर लेंगे।

परन्तु समरसिंह को इस समय बोलने की लग रही थी। उसने बड़ी आत्मीयता से रामसिंह का हाथ पकड़ कर कहा, 'रामसिंह, एक बड़ी गुप्त बात है। मगर कलेजा उछलता है। पुरानी दोस्ती की कसम, टालो मत तो पूछूँ।' और वह थोड़ी देर के लिए चुप बैठ गया !

रामसिंह चुपचाप प्रश्न की प्रतीक्षा कर रहा था। अंधकार में शायद समरसिंह ने देखा नहीं किन्तु रामसिंह की आँखों में वही सन्देह हुआ जो आत्मविश्वास खो देने वालों में होता है। आग के सामने बैठा होने पर भी एक बार वह काँप उठा !

समरसिंह ने कहा—'रामसिंह तुम अन्त:पुर की ड्योढ़ी पर भी रहते हो। एक बात जानते हो ? सुनते हैं पद्मपुर के राजकुमार और अपनी राजकुमारी—'

रामसिंह ने घबरा कर हाथ से उसका मुँह बन्द कर दिया और बोला, 'ज़बान न खोलो, समरसिंह। पद्मपुर राज अनन्तगढ़ से छोटा है—महाराज कभी अपनी बेटी पद्मपुर को दे सकते हैं ?'

समरसिंह थोड़ा सा मुसकुराया और बोला—'बदल दी तुमने मेरी बात ! इसी से कहा था टालना मत ? मुझे मालूम है तुम राजकुमारी के विश्वासपात्र हो। मेरा विश्वास करो ! क्या यह बात ठीक नहीं है कि कुमार और कुमारी में प्रेम हो गया ? मुझे भी जान लेने दो, आज तक हमारे तुम्हारे बीच में कुछ छिपा है ?'

रामसिंह चुप था। उसकी आँखें काँपती हुई लौ की ओर लगी हुई थी। चेहरा भयभीत था। उस थोड़ी देर की शान्ति में दोनों प्रहरियों

की सांसें एक दूसरे का उत्तर दे रहीं थीं। रामसिंह सोच रहा था सचमुच समरसिंह से आज तक कुछ नहीं छिपाया। पूछता है, इतना जान भी लेगा तो क्या हर्ज है? अपने अपने दिल में तो शायद सभी सन्देह करते हैं। एक लम्बी सी साँस खींच कर उसने कहा—'समरसिंह किसी से कहना मत। बात ठीक है।'

समरसिंह की आँखें फैल गईं। माथा कुछ कुछ सिकुड़ा और फिर उसने गंभीरता से सिर हिला कर कहा 'हूँ तब तो राजकुमारी के विवाह में भी कुछ लहू बहेगा, ऐसा लगता है।'

रामसिंह कुछ देर सोचता रहा। फिर अनमने तौर से बोला, मानों कुछ कहना न चाहता हो 'ऐसा चाहिए नहीं। लाभ क्या है? कुमारी यदि जाना चाहे तो उन्हें रोका क्यों जाए? उनकी इच्छा भी तो कोई चीज़ है?'

समरसिंह की आँखें कुछ खिँच सी गईं। भौंवें पर बल पड़ गये। वह बोला—'रामसिंह पागल हुए हो? कैसी इच्छा? अनन्तगढ़ की आन से भी बड़ी किसी की इच्छा हो सकती है?'

रामसिंह कुछ खुला। 'राजकुमारों और राजकुमारियों के प्रेम ने किसकी आन देखी है? मैं तो समझता हूँ राजकुमारी को उनकी इच्छा के विरुद्ध रोका नहीं जा सकता है।'

समरसिंह चौंका। 'रोका नहीं जा सकता।' इसका क्या अर्थ?

रामसिंह के पेट में कुछ है क्या? एक बार वह सिहर कर गम्भीर हो गया। समरसिंह ने स्वर नीचा करके पूछा। 'यह क्या प्रपंच है, रामसिंह? राजकुमारी कहीं जाना चाहती हैं क्या?'

आघात ठीक स्थान पर हुआ। मगर रामसिंह मंजा हुआ खिलाड़ी था। सँभल कर बोला—'नहीं, नहीं, जाना कहाँ चाहेगी? मैंने तो कहा कि उन्हें प्रेम करने से कोई रोक नहीं सकता!'

समरसिंह कितने वर्ष रामसिंह के साथ बिता चुका था। उसे भाँपने क्या देर लगती कि रामसिंह उड़ रहा है। मगर वह बात को दबा गया।

फिर भी एक हल्की सी मुस्कान उसके होठों पर खिल गई। सहसा वह बड़े गूढ़ स्वर में बोला—'अच्छा तो शायद पद्मपुर के राजकुमार का इस दुर्ग में यह अन्तिम आगमन होगा।'

रामसिंह ने अन्धकार को पढ़ते हुये कहा—'तुम्हारा कहना सच जान पड़ता है।'

दोनों मित्र एक दूसरे को समझने की चेष्टा कर रहे थे। परन्तु समरसिंह अधीर था। उसकी उत्सुकता बढ़ती जा रही थी। फिर सिर झुका कर रामसिंह के रहस्य को सोचने लगा। वह बात जो रामसिंह उससे भी छिपाना चाहे सचमुच ही बड़ी गुप्त होगी!

समरसिंह ने सोचते सोचते मानो अपने से ही कहा—'रामसिंह तुम राजकुमारी के बड़े विश्वासपात्र हो—और अनन्तगढ़ के भी!'

रामसिंह ने कुछ उत्तर नहीं दिया। सहसा क्षितिज के वृक्षों को नीचे छोड़ कर चाँद निकल पड़ा। प्राचीर और कोट सपनें मानों नींद में करवट ली। चारों ओर चाँदनी में डूबा हुआ धुँधला धुँधला सा कुहासा दिखलाई पड़ने लगा। सन्नाटा अपनी शीतलता में सुन्दर हो उठा!

रामसिंह के मुँह से निकला—'चाँद उग ही आया।'

समरसिंह सोच रहा था। बोलता क्या? परन्तु उसका इस तरह सोचना रामसिंह को अच्छा नहीं लग रहा था। समरसिंह बोलता बहुत था—परन्तु जब उसके हृदय में तूफान उठ रहा होता था तब वह गम्भीर होकर चुप हो जाता था। रामसिंह इसे अच्छी तरह जानता था।

समरसिंह सोच रहा था—और रामसिंह अपराधी की तरह उसे चुपचाप देख रहा था। समरसिंह की आँखों में सारा वातावरण स्थिर हो गया था। मन्दिर के पीछे की ओर अनन्तपुर का द्वार था। सामने आँगन के पूरब अतिथिशाला थी, जिसमें पद्मपुर के राजकुमार ठहरे हुए थे। कुहासा बीती हुई स्मृतियों की भाँति धीरे धीरे काँप रहा था।

रामसिंह ने फुस-फुसाकर पूछा मानों अपनी ही वाणी से भयभीत

हो—'समर क्या सोच रहे हो ?'

समरसिंह ने फिर आघात किया—'सोच रहा हूँ भविष्य के गर्भ में क्या है !'—और वह आग तापने लगा।

रामसिंह ने ऊब कर कहा—'समरसिंह गश्त लगाओ, मैं मन्दिर की ओर जाता हूँ !'

समरसिंह ने कहा, 'बैठो, आग तापो। बड़ा जाड़ा है मन्दिर के कोट में कौन बाहरी मनुष्य इस समय घुसा आ रहा है ? क्या जल्दी पहरा देने की ? थोड़ी देर और बात कर लें !'

रामसिंह ने टालने के अभिप्राय से कहा—'समरसिंह, राजकुमारी का, स्वभाव कितना अच्छा है ! सचमुच उनकी हर आज्ञा का पालन करने का जी चाहता है।'

समरसिंह ने मुस्करा कर कहा—'आज्ञा पालन करने में अनन्तगढ़ को भूल न जाना।'

रामसिंह बड़ी देर से आघात सह रहा था, उसकी हिम्मत जवाब दे रही थी। समरसिंह ऐसे पुराने साथी को साधना टेढ़ी खीर थी। इस बार वह बिखर गया। उसने उमड़ कर पूछा—'समर, तुम किस तरह की बातें कर रहे हो ?'

समरसिंह को लगा जैसे रामसिंह विवश है। उसने विश्वास भरे स्वर में पूछा—'रामसिंह, राजकुमार कितने दिनों से यहाँ ठहरे हैं। पहले भी यहाँ आ चुके हैं—राजकुमारी से भेंट हुई ?'

मानों एक आखिरी खटकता हुआ काँटा था जिसे समरसिंह ने पकड़ कर खींच लिया और रक्त बह निकला। रामसिंह और पास सरक आया और समर के हाथ को अपने पंजों में दबा कर बोला—'मेरे ख़ून की कसम, गुप्त रखना। राजकुमारी और राजकुमार कई बार मिल चुके हैं। अभिसार जानते हो ? राजाओं के यहाँ इसे अभिसार कहते हैं।'

कम्बल के नीचे एक सिहरन तो अवश्य हुई परन्तु इतनी बड़ी बात

समरसिंह समूची इसी तरह पी गया मानो एक गिलास पानी हो। उसकी आँखों में उत्सुकता ज्यों की त्यों बनी हुई थी। उसने गम्भीरता से कहा—'नई बात नहीं है; समझता तो बहुत दिनों से था। आज खबर पक्की हो गई।' फिर बड़े तीखे व्यंग के साथ उसने, चुपके से कहा, 'इसके बाद ?'

रामसिंह बिल्कुल टूट चुका। समरसिंह की अस्वाभाविक गम्भीरता से उसका दम घुटा जा रहा था। इतना बड़ा भेद प्रगट कर दिया—और कोई असर नहीं। एकबार वह चौंका भी नहीं। रामसिंह को अपने अन्दर केवल अपराध ही अपराध दृष्टिगोचर हो रहा था। डूबते हुए तैराक की तरह वह अपनी सारी शक्ति लगा रहा था। उसने एक बार और हाथ मारा—'समरसिंह, आज की रात राजकुमारी और राजकुमार की भेंट होगी।'

समरसिंह स्थिर भाव से आग तापता रहा। वह हिला तक नहीं। आँखें पथराई हुई सी मन्दिर के धुँधले कोट में शून्य पर टिकी हुई थी। सहसा उसने धीरे से कहा—'मैं यही सोच रहा था रामसिंह।'

कुछ देर के लिए सन्नाटा छा गया। समरसिंह सोच रहा था रामसिंह की बात—'राजकुमारी को कोई उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई रोक नहीं सकता।' और रामसिंह सोच रहा था समरसिंह की बात—'तब तो राजकुमारी के विवाह में भी लहू बहेगा ऐसा लगता है।'

समरसिंह के ओंठ खुले, 'परन्तु कहाँ ?'

सहसा समरसिंह की आँखों ने देखा; मन्दिर के कोट में एक छाया मूर्त्ति सी दिखाई पड़ी। उसका हाथ तुरन्त तलवार पर जा पड़ा और वह झटके से उठ खड़ा हुआ।

'कौन है ?' आवाज़ सन्नाटे में गूँज गई !

रामसिंह ने बिना पीछे देखे ही समरसिंह को पकड़ा, 'समर, ईश्वर के लिये बैठ जाओ, शोर न मचाओ।'

परन्तु समरसिंह ने तब तक छाया को पहचान लिया था। वह चिल्लाया—'पद्मपुर के राजकुमार ! खबरदार मन्दिर के कोट में पैर न

रखना।' और वह छाया की ओर बढ़ा।

रामसिंह उसका हाथ कस कर पकड़े हुए था। उसने फिर अनुभव किया—'समर, समर, शान्त हो जाओ, सब राजकुमारी की आज्ञा से हो रहा है!'

'अनन्तगढ़ की आज से स्वयं महाराज की आज्ञा बड़ी नहीं है—माँ के मन्दिर में कोई बाहरी मनुष्य पैर नहीं आ सकता है'—और उसने झटके से अपना हाथ छुड़ा लिया।

रामसिंह ने जान लिया कि यह रुकने का नहीं है। उसने उसे एक बार फिर पकड़कर उसका रास्ता रोका और चिल्लाकर कहा—'समरसिंह आज राजकुमारी का प्रयाण है। मैं उनकी आज्ञा से तुम्हें रोकता हूँ—बस आगे न बढ़ना।'

समरसिंह एक क्षण के लिए हतबुद्धि सा हो गया—फिर वह गर्जा, 'रामसिंह मक्कार, विद्रोही, हट जा सामने से!'

दोनों गुथ गये। राजकुमार कोट में खड़ा हुआ दोनों मित्रों का युद्ध देख रहा था। चाँदनी गम्भीर हो गई थी। कुहासा थम गया था। वायु का स्पन्दन ठहर गया था। आग अपनी साँस रोके हुए थी। सहसा समरसिंह ने रामसिंह को दोनों हाथों में उठा लिया। एक बार प्राचीर पर फिर हरकत हुई और झम्म! नीचे कृष्णा की अथाह जल ने रामसिंह को पी लिया और फिर वही भीषण शान्ति। समरसिंह जैसे चौंककर जाग उठा, 'अरे मैंने यह क्या किया।'

दूसरे ही क्षण वह राजकुमार की ओर दौड़ा परन्तु उसका उत्साह शिथिल हो रहा था। उसने कहा—'राजकुमार आप हमारे अतिथि हैं मैं आप पर हाथ नहीं उठा सकता। परन्तु यह माँ अनन्तशक्ति का मन्दिर है मेरे रहते आप इसके कोट में पैर नहीं रख सकते।'

राजकुमार ने उत्तर नहीं दिया। परन्तु उसकी आँखों में आग थी। उसका हाथ तलवार की मूठ पर था। सहसा बिजली सी चमकी और समरसिंह का सिर कट कर ज़मीन पर घूमने लगा। धरा लाल हो गई।

राजकुमार सोच रहा था—केवल एक सिर के कटने से उसका उद्देश्य पूरा हो जाये तो कौन सी बड़ी बात ?

परन्तु समरसिंह के खून की बूँद बूँद से मानों यही ध्वनि निकल रही थी। 'तब तो राजकुमारी के विवाह में खून बहेगा ऐसा लगता है।'

प्रातःकाल राजकुमारी और राजकुमार का पता न था। तब तक कदाचित दोनों पद्मपुर पहुँच गए थे।

श्री सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

फोटोग्राफ़ी में जो स्थान और महत्व प्रोफ़ाइल चित्रों का होता है वही महत्व श्री सर्वेश्वर की कहानियों का है। जिन्दगी को संपूर्ण देखने का लोभ छोड़कर, एक ऐसे विन्दु से देखना जहाँ से जिन्दगी की विलगताएँ, नोंकें, और चढ़ाव उतार उतने ही स्पष्ट हो उठें जितने कि प्रोफाइल चित्र में।

भाषा में कविता का रस पैदा करने में सर्वेश्वर जी को काफ़ी सफलता मिली है। इसके अलावा कहानी का चरमोत्कर्ष इनकी विशेष सफलता है। रस, टेकनीक और भाषा तीनों ही के क्षेत्र में सर्वेश्वर एक जागरूक प्रयोगकर्ता हैं और इसीलिए इनसे अभी बहुत आशाएँ हैं।

ज़िन्दगी और मौत

निर्जन पर्वतीय-प्रान्त ! दूर-दूर तक पहाड़ियाँ अपने सौन्दर्य की आभा बिखेरती हुई किसी की प्रतीक्षा में सजी खड़ी थीं ! चाँदनी रात थी। शशि किरणों की धवल धारा तूलिका सदृश श्वेत बादलों से बँधी हुई पहाड़ों की चोटियों पर ऐसी लगतीं मानो असंख्य स्वर्ग परियाँ एक साथ नृत्य प्रारम्भ करने के लिए एक विचित्र भावभंगिमा सजाती हुई थिरक रही हों। लम्बे-लम्बे देवदारु और साल के वृक्ष मंत्रमुग्ध दर्शकों की भाँति मौन खड़े थे। मन्थर गति से चलती हुई सुरभित वायु कभी-कभी इन वृक्षों पर सितार की एक गत बजा जाती और सारी प्रकृति उस रागिनी में विभोर दीखती।

अचानक आकाश में एक कम्पन हुआ और चाँद की किरणें सिहर उठीं। पहाड़ियाँ काँप उठीं। देवदारु के वृक्षों का झीना तिमिर चीरती हुई अप्सराओं से भी अधिक सुन्दर दो पहाड़ी बालाएँ उस खुले स्थल पर तीर की तरह आ खड़ी हुईं। दोनों की आँखों से क्रोध की चिनगारियाँ निकल रही थीं।

मंदालसा ने मज़बूती से इन्दुजालता का हाथ पकड़ लिया और दूसरे ही क्षण उसके दूसरे हाथ में विष से बुझा छुरा चमक उठा।

'तुम मेरे मार्ग में रुकावट मत बनो।' कठोर अनुशासन के स्वर में उसने कहा।

'मैंने कभी इसकी चेष्टा नहीं की। तुम मेरी बड़ी बहन हो इसलिए मैं एक यंत्र सी तुम्हारे आज्ञा पर चलती रही······।' निश्चल भाव से लता बोली।

'देखती हो यह छुरा—यदि आज से उस युवक तपस्वी ने तुम्हारी ओर फिर प्यार की आँख से देखा तो······मैं तुम्हें जीवित नहीं रहने दे सकती। तुम मुझसे कुछ ही अधिक सुन्दर हो और इसीलिए शायद तुम गर्व करती हो। लेकिन यह याद रखना कि परियों सी यह तुम्हारी सूरत मिट्टी में मिला दूँगी! नहीं जानती थी कि तुम ज़हर से भरी हुई हो। देखने में इतनी भोली परन्तु······!'

'चुप रहो—चरित्र पर आक्षेप मैं नहीं सह सकती,' लता उसे बीच मेंकाटकर चिल्ला पड़ी।

'नहीं सह सकती। अपने अन्तःकरण की गन्दगी बाह्य सुन्दरता से छिपाने में कुशल हो इसीलिए न।'

'मंदा', क्रोध से तमतमाकर एक झटके से कमर से छुरा खींच कर वह चिल्लाई, 'ज़बान संभाल कर बोलो। अपमान का अधिकार तुम्हें नहीं है।'

'अपमान', मंदा खिलखिलाकर भयानक हँसी हँस पड़ी और फिर गम्भीर स्वर में बोली—'अपमान का यदि ध्यान होता तो आज वह दिन न आता। मेरा रास्ता तुमने साफ छोड़ दिया होता। प्यार के स्वाँग भरती हो, मेरी बुराई करती हो। आज वह मेरी परछाईं से भी घृणा करने लगता है। मेरा जीवन नष्ट कर रही हो फिर भी चाहती हो मैं तुम्हारा अपमान न करूँ।'

झूठा दोषारोपण ठीक नहीं। मैं आज पंद्रह दिनों से तुम्हारे कथनानुसार ही पहाड़ की तलहटी के ग्रामों में दवाइयाँ बाँटती फिर रही हूँ, केवल इसीलिए कि तुम्हें अपना सम्बन्ध बढ़ाने का अवकाश मिल जाय

फिर भी तुम सफल न हो सकीं इसमें मेरा क्या दोष ?' लता ने कहा ।

'दोष ! दोष यही है कि तुमने उसका मन अपने वश में कर रखा है । तुम उससे घृणा करो ।'

'यह मैं नहीं कर सकती । प्यार के प्रत्युत्तर में उपेक्षा और घृणा देना मेरे बस की बात नहीं है । यदि वह मुझे प्यार करेगा तो मैं उसे अवश्य प्यार करूँगी ।'

'लता', मंदालसा ज़ोर से चिल्लाई । क्रोध के कारण उसका चेहरा तमतमा उठा था । हाथ का छुरा एक बार फिर काँप उठा । दूर पहाड़ों ने एक भयानक प्रतिध्वनि की । मंदा फिर कहने लगी—'स्वयं नाश होने पर मैं तुम्हारा भी नाश करके छोड़ूँगी ।'

'इसका मुझे भय नहीं । प्यार की शिखा पर सृष्टि के प्रारम्भ से ही अत्याचार होते आए हैं । दीपक की ज्योति पर पतिंगे जलते हैं, यही ईश्वर का भी विधान है ।'

'प्यार की दीवानी ! एक बार देख तेरे प्रेम के सुन्दर भवन के नीचे कितनी दूषित मनोवृत्तियों का गन्दा नाला बह रहा है । तेरा प्रेम वह प्रेम नहीं है जिसका आदर्श त्याग है, जिसका अन्त बलिदान है । अपने कुटिल स्वार्थों को सिद्ध करने लिए आज मनुष्य प्रेम का ढोंग रचता फिरता है । जिस प्रेम को तू आदर्शवाद पर खींच रही है वह कुत्सित वृत्तियों के कीचड़ में है । मिथ्या को सत्य मत बना ।'

'क्या बक रही हो ?'

'सत्य कह रही हूँ । यदि प्रमाण चाहती है तो चल महाशिव के मन्दिर पर ।'

एक क्षण बाद दोनों महाशिव के मन्दिर पर थे ।

'देखती है भगवान महाशिव को ? खा शपथ कि तू अपने प्रेम के लिए हर प्रकार का बलिदान कर सकती है ।' मन्दा आवेश में बोली ।

लता ने एक मंत्र की भाँति सपथ खा ली ।

और दूसरे ही क्षण उसके हाथ में छुरा देकर मंदा बोली—'निकाल

अपना हृद्पिण्ड यदि तेरा प्रेम पवित्र है, उसमें वासना का लेश भी नहीं है। याद रख, मैं महाशिव की शपथ लेकर प्रतिज्ञा करती हूँ कि तेरी मृत्यु के बाद मैं उससे कोई सम्बन्ध न रक्खूँगी। है साहस?'

लता के मुख-मंडल पर एक स्वर्गीय कान्ति छा गई। अपने प्रेम की पवित्रता और अमरता पर विश्वास करके उसने छुरा हाथ में कसकर पकड़ लिया। उसकी आँखों के सामने उसके प्रियतम की सौम्यमूर्ति थी और वह उस सुन्दरता में विभोर हो मुस्करा रही थी। हाथ का छुरा छाती में प्रवेश करने के लिए धीरे-धीरे बढ़ रहा था और उधर भय से आक्रान्त हो चाँदनी काँप रही थी!

अचानक एक झटके से आकर किसी ने लता का हाथ हकड़ लिया। वह था युवक तपस्वी वनराज। मंदा काप उठी। गम्भीर स्वर से वह बोला—

'पत्थरों के सामने रक्त से अर्चना करना व्यर्थ है लता। ये पाषाण अपनी ही जलन समझते हैं, दूसरे की नहीं। अपने स्वार्थ की तृप्ति के लिये समस्त संसार की बलि कर सकते हैं। मानवी रूप में दानवी है यह, तुझे मारकर स्वयं जीना चाहती है। तू सरल है। उसका छल-छद्म क्या समझेगी! चल इस नर्क-कुण्ड से।' और फिर वह मंदा की ओर मुँह करके बोला—

'राक्षसी, अब तक यदि मैं तुझसे, प्यार नहीं करता था तो घृणा भी नहीं करता था। पर आज तुझसे घृणा करता हूँ। शक्ति और छल से प्यार नहीं खरीदा जा सकता। अबोध स्त्री! प्यार स्वयं बिक जाता है जिधर पवित्रता और सफाई होती है।' घृणा की आँखों से युवक ने उसकी ओर देखा और फिर लता का हाथ पकड़ कर चल दिया।

मंदालसा स्तब्ध खड़ी थी, काठ की पुतली की तरह। परन्तु उसकी आँखों से रोष की चिनगारियाँ निकल रही थीं। सारी प्रकृति उसकी इस अवस्था पर व्यंग से मुस्करा उठी थी।

*　　　　*　　　　*

एक बार की जली हुई प्रतिशोध की आग फिर कभी जीवन भर नहीं बुझती और मूर्ख मनुष्य दूसरों को जलाने की आशा में स्वयं भस्म होने में भी नहीं हिचकता।

मंदालसा ने उस मखमली गद्दे पर एक करवट बदली और उदास आँखों से वातायन की ओर देखा। उसके वसन अस्त-व्यस्त थे, अंग-अंग शिथिल हो रहे थे। बाहर हल्की-हल्की चाँदनी एक प्यास-सी जगा रही थी। स्मृतियों के एक झटके ने उसकी आँखों में ईर्ष्या की आग भर दी। वह काँप उठी। 'निशा' उसने बाँदी को एक धीमी आवाज दी। कुछ खामोश निगाहों से उसकी ओर देखा फिर एक मदभरी अँगड़ाई लेती हुई बड़े तकिए के सहारे ढुलक गई। हिम से श्वेत शरीर को देख अन्धकार की भी लोलुप आँखें चमक उठी थीं।

निशा ने मदिरा का पात्र उसके अधरों से लगाया और वह उसे कंठ के नीचे उतार गई। फिर एक, दो, तीन—वह पीती गई और कुछ क्षणों बाद अचेत-सी शैय्या पर लुढ़क गई।

इसी समय राजा ने डगमगाते पैर रख कर कमरे में प्रवेश किया। शैय्या पर पड़ी रूप की ज्योति निरख उसकी विलासी आँखों में एक खुमारी छा गई।

'मंदालसा'—राजा ने अस्फुट ध्वनि में कहा। उसके स्वर में एक अतृप्त प्यास छलक उठी थी। और दूसरे ही क्षण वह राजा के बाहों में आबद्ध थी।

'अब तो तुम मेरे पास से कहीं नहीं जाओगी?' राजा ने प्यार के आवेश में आकर पूछा।

'नहीं—मेरी आँखों के सामने आज तक एक भ्रम का पर्दा पड़ा था, अब वह हट गया। मेरे राजा, मैंने तुम्हारी बहुत उपेक्षा की। अब तक मैं तुम्हें पहचान न सकी यह मेरा अभाग्य था। परन्तु अब मैं तुम्हारी हूँ, विश्वास करो, अब मैं तुम्हारे पास हमेशा के लिए आई हूँ। तुम्हारी सारी शर्तें मुझे मान्य हैं। विलास और ऐश्वर्य से अब मुझे भी रुचि हो गई है।'

राजा की आँखें चमक उठीं।

'आज से कुछ दिन पहले मैं तुमसे घृणा करती थी। उस दिन 'इन्द्रध्वज महोत्सव' में मेरे नृत्य पर तुमने जो मुझे उपहार दिया था उसका मूल्य उस समय मैं न आँक सकी थी। परन्तु मेरे प्रियतम, अब मैं मानती हूँ कि वह मेरी ज़िन्दगी, मेरे प्यार की पहली भेंट थी। जीवन के साथ-साथ आदमी की दार्शनिकता भी बदलती जाती है। आज मैं प्रसन्न हूँ कि मैं मौत के रास्ते से हटकर ज़िन्दगी के रास्ते पर आ गई हूँ।'

मंदालसा किसी अनजान शक्ति से प्रेरणा पाकर यह सब कहती चली जा रही थी और राजा चुपचाप अपने वासनापूर्ण नेत्रों से उसके मुख-मंडल के परिवर्तित भावों से बँधे सौंदर्य को एकटक देख रहा था।

कुछ क्षण बाद वह फिर बोली, 'अपराध आदमी से ही होता है। मेरे जीवन सर्वस्व ! आशा है, तुम मुझ अबोध स्त्री के पिछले व्यवहार को क्षमा कर दोगे। मैं आज तुम्हारी शरण में हूँ।'

राजा ने उसे कुछ और अधिक न कहने देकर उसके अधरों पर हाथ रख दिया और वह खामोश हो गई। मानो अपराध क्षमा कर देने की यह सबसे बड़ी स्वीकृति थी। मंदालसा की आँखें भर आईं पर राजा उन्हें न देख सका।

* * *

पाँच साल बीत गए। साँझ का समय था। पानी बहुत काफ़ी बरस चुका था। इंदुजालता और वनराज नीचे पहाड़ी ग्रामों में एक विशेष बीमारी की दवा बाँटकर लौटते समय बुरी तरह भीग गए थे और ठंडी हवा के कारण काँप रहे थे।

इंदुजालता ने अपने लम्बे केशों का पानी निचोड़ते हुए कहा—'सामने का नाला बुरी तरह भर गया है। अब पार कैसे जा सकेंगे हम लोग ?'

'ईश्वर सहायक है। शायद राजा की ओर से नावें लगी होंगी।'

दोनों काँपते हुए नाले के किनारे आए। वर्षा के कारण नाले का रूप नदी से भी भयानक हो गया था और वह एक भयंकर गर्जना कर पर्वतीय चट्टानों से टकरा-टकराकर बह रहा था। उस पार राजा का विशाल गगनचुम्बी दृढ़ महल था। आसपास के पर्वतीय ग्राम ही नहीं अपितु दूर-दूर तक के पहाड़ी नगर तक सब उसके अधिकार में थे। देवता-सा उसका आदर होता था। उसका नाम सुनकर दुश्मनों के रोंगटे खड़े हो जाते थे।

तीर पर कुछ नावें बँधी थीं। वनराज और इंदुजालता उसमें बैठ गए और लहरों से लड़कर नाव चलने लगी।

महल की ऊपरी छत पर मंदालसा राजा के साथ खड़ी, वर्षा से धुली हुई पहाड़ियों का सौंदर्य देख रही थी। आकाश के मेघ साफ़ हो चुके थे। पूर्व दिशा में इन्द्रधनुष का एक छोटा-सा टुकड़ा लहरा रहा था।

मंदालसा ने पहाड़ी पत्थर के एक सतरंगी प्याले में मदिरा भर राजा के अधरों से लगा दी। राजा मुस्करा पड़ा। मदिरा गले से उतार उसने मंदालसा को हृदय से लगा लिया। उसकी छोटी-छोटी पहाड़ी आँखें भी चमक उठीं।

अचानक मंदालसा की दृष्टि नाले की ओर गई! इंदुजालता और वनराज को साथ साथ नाव में देख एक बार ईर्ष्या की आग फिर भड़क उठी। और दूसरे ही क्षण उसने राजा से कहा—

'आज इन पाँच वर्षों में तुमने मेरे लिए क्या नहीं किया! तुम्हारे आश्रय में रहकर मैंने इस संसार का सब कुछ देख लिया परन्तु मेरे प्रियतम, मैंने आज तक पानी में डूबकर आदमी को मरते हुए नहीं देखा। मैं आज मौत देखना चाहती हूँ—मौत।'

इतना कह कर उसने नीचे नाले की ओर मुस्करा कर देखा और फिर उसका उत्तर राजा की आँखों में खोजने लगी।

राजा समझ गया।

और दूसरे ही क्षण दो बड़ी लम्बी नावें लता की नाव की ओर मँझधार में तेजी से बढ़ रही थीं।

लता ने देखा उठती हुई भयानक लहरों के बीच उसकी नाव बुरी तरह काँप रही है और दूसरे ही क्षण मौत से भयंकर आवाज़ में कोई कह रहा था—'महारानी मंदालसा की आज्ञा है कि नाव डुबा दी जाय। मल्लाह ! नाव के पेंदे में छेद होगा।'

लता काँप उठी। भयभीत हो वनराज के वक्ष से लिपट गई। उसका मस्तिष्क शून्य हो गया था। मुख पर भय और निराशा की हवाइयाँ उठ रही थीं। एक हल्की सी चीख़ निकल पड़ी उसके मुखसे, 'अब क्या होगा ?'

वनराज कुछ हँस कर बोला, 'डरती है तू ! पगली, हम तुम साथ साथ मर रहे हैं इससे बढ़कर और कौन सुख हो सकता है ? यह मौत नहीं है लता—इसे ज़िन्दगी कहते हैं। हँस-हँस, रोती क्यों है !'

और फिर दोनों ठठाकर हँस पड़े थे। नाव डूब गई थी। दूर पहाड़ से लौटी हुई उस अंतिम हास्य की प्रतिध्वनि ने राजा के हृदय पर आघात किया।

मंदालसा के मुख पर एक उदासी छा गई।

'देखी तूने मौत ?' राजा ने गम्भीर स्वर में पूछा और एक बनावटी मुस्कराहट से उसने 'हाँ' का उत्तर दिया।

'कैसी थी ?'

'बहुत अच्छी, बहुत मधुर······बहुत मीठी।' कहकर वह खिलखिला कर हँस पड़ी।

एक क्षण में राजा के मुख पर गम्भीरता छा गई। उस हँसी में उसे कुछ क्षणों के अट्टहास का प्रत्युत्तर मिला। वह काँप उठा। भयानक हो उठा उसका चेहरा।

'झूठ कहती है तू'—राजा ने भयंकर आवाज में कहा—'भ्रम है तेरा, वह मौत नहीं थी। जिन्दगी थी।' कहते-कहते राजा की मुखाकृति

भयानक हो उठी।

एक क्षण में उसने मंदालसा को फूल-सा अपनी बाहों में उठा लिय और 'मौत यह है।' एक भारी आवाज में कहते हुए सैकड़ों फ़ीट नीचे नाले में फेंक दिया!

मंदालसा ज़ोर से चीख़ उठी। दूर पहाड़ों ने उसकी प्रतिध्वनि क और उस ध्वनि के साथ राजा का भयंकर अट्टहास गूँज उठा। नीचे पहाड़ी नाला ज़ोर से खिलखिला उठा और प्रकृति के अन्दर भी मौत की उदासी छा गई।

श्री शम्भूनाथ सिंह

काशी के सुप्रसिद्ध कवि जिनकी सुमधुर शैली ने अपना एक निश्चित स्थान बना लिया है। रिसर्च स्कालर और पत्रकार का जीवन बिताने के बाद अब काशी विद्यापीठ में अध्यापक!

जिन्दगी के चढ़ावों, उतारों ने जिन सैकड़ों अनुभूतियों का वरदान दिया, जब वे लय और छन्द की सीमा तोड़ कर गद्य पर उतर आईं तो कहानियाँ बन गईं। एक खुमारी, उजड़ी स्मृतियों के प्रति एक रसीला आग्रह और सुख दुख के घात-प्रतिघातों में से गुजरते हुए एक हृदय के स्पन्दनों का आकलन। यही इनकी कहानियों की विशेषताएँ हैं। लेकिन कलाकार की दृष्टि केवल वैयक्तिक प्रणय तक ही नहीं रही है, उसने युग की विषमताओं से आहत मानवता की कराह भी सुनी है और उनके आँसू क़लम पर भी उतारे हैं।

किन्तु मुख्यतया वह जवानी के सतरंगे सपनों का गायक है, और उन्हीं सपनों को छूकर उसकी कहानियाँ भी जगमगा उठी हैं।

उलझन

जब बँगले की सीढ़ियों पर जूतों की चरमर हुई तो सन्तोष का ध्यान टूटा। अँगीठी के पास की कुर्सी को, जिस पर वह बैठी थी, हटा कर उसने गद्दीदार आर्मचेयर वहाँ रख दी, कमरे में बिजली के स्विच को दबाकर रोशनी कर दी, मोमबत्ती को बुझा कर आलमारी पर रख दिया और हाल के दरवाजे की ओर मुँह करके खड़ी हो गयी : स्वागत करने के लिए। प्रफुल्ल ने हाल में घुस कर जो कुछ देखा उससे उसे महान् आश्चर्य हुआ। आज के इस परिवर्तन का कारण कुछ न समझकर उसने पूछा—'तुम्हारी मोमबत्ती सन्तोष ? आज वह नहीं जली क्यों ?'

लेकिन सन्तोष के मुखाकृति में कुछ भी विकृति नहीं आयी, गोकि उसने प्रफुल्ल के इस व्यङ्ग का अर्थ खूब अच्छी तरह समझा। पर इसका उत्तर किस तरह दे, यही वह सोचने लगी। पति के हर एक प्रश्न का उत्तर इसी तरह सोचने-विचारने के बाद वह दिया करती थी।

लेकिन बहुत सोचने के बाद भी कोई उत्तर न सूझा—जैसे अपराधी की भाँति वह अफ़सर के सामने खड़ी कर दी गयी हो या प्रफुल्ल जैसे कोई अपरिचित व्यक्ति था जिससे बोलने में उसे कुछ हिचक, सङ्कोच और घबराहट मालूम हो रही हो। उसने तब सोचा कि हाँ,

मुझ में सचमुच आज यह परिवर्तन कैसे आ गया ? मैंने आज खड़ी होकर इनका स्वागत कैसे किया·····?

फिर भी वह गुमसुम खड़ी हो रही। प्रफुल्ल कुछ देर तक उसकी ओर देखता रहा और गुस्से में आकर उसके स्वागत को ठुकराता हुआ सा अपने कमरे में चला गया। पत्नी में यह परिवर्तन लक्ष करके उसने अपने दाम्पत्य-जीवन में पहली बार कुछ गुदगुदी का अनुभव किया था, क्योंकि उसे लगा कि उस वर्फ की नारी में अचानक कहीं से कुछ गर्मी आ गयी है। जी में तो आया कि सन्तोष के इस स्वागत को स्वीकार करके जिस बात को वह स्वप्न समझता रहा है उसे सत्य करे; लेकिन दुर्भाग्य, कि उसके मुँह से वह बेतुका प्रश्न निकल पड़ा था जिसे सुनकर वह गुमसुम खड़ी ही रह गयी थी—फिर वह कैसे उसके पास जाता ? एक गहरी साँस खींचकर वह चारपाई पर गिर पड़ा।

'तो इसमें मेरा क्या दोष है ?' वह कातर होकर सोचने लगा। 'इतनी प्रतारणा आखिर मुझे क्यों ? जीवन को कण्टकाकीर्ण बनाने के लिए मैंने किसी को निमन्त्रित तो नहीं किया था। यह सब कुछ अपने आप ही हो गया। फिर इसमें मेरा अपराध क्या है जो यों तिलतिल कर मुझे जलना पड़ रहा है ? लेकिन नही, व्यर्थ है अब इन बातों को सोचना·····।'

वह जितना ही सन्तोष की बातें सोचने से अपने को विरत करना चाहने लगा, उतना ही वह उस दलदल में फँसता गया, बहता गया उसी धारा में, घोर अन्धकार में वह डूबने-उतराने लगा।

और बड़ी देर बाद सन्तोष को भी अपनी मोमबत्ती याद आयी। उसे हाथ में लिया तो वह डायरी याद आयी जिसे पति के आने के पहिले वह पढ़ रही थी और फिर बड़ी सावधानी से एक ओर छिपा कर रख दिया था। उसे भी उठाकर अपने कमरे में चली गयी। वहाँ मोमबत्ती जलायी, सिरहानेवाली मेज़ पर उसे रखा और चारपाई पर पड़ कर छत की ओर देखने लगी। लेकिन वह छत की ओर नहीं, अपने

अतीत की ओर देख रही थी जिसके अन्धकारपूर्ण अन्तरिक्ष में सितारों-से चमकते हुए कुछ विन्दु दिखलाई पड़े। वह उन्हें पकड़ने के लिए जैसे पङ्ख लगाकर उड़ पड़ी।

लेकिन उसी एक चमकीले नक्षत्र ने उसे आज भी अपनी ओर ज़ोरों से खींचा, जिसके इर्द-गिर्द वह अपनी इन तमाम पिछली अन्धकारपूर्ण रातों में मँडराती रही है, सूने-सूने दिवसों को जिसके सपनों से भरती रही है, वह ज्योति-पुञ्ज—वह प्रकाश······!

प्रकाश को वह क्या कहे? क्या कहने लायक है वह? दिव्यात्मा है, निष्कलुष है। परन्तु उसी प्रकाश ने उसकी जो हालत कर दी है उसे कौन समझ सकता है! वह खुद भी क्या यह सब जानता होगा कि सन्तोष किस तरह जीवन व्यतीत कर रही है, जी भी रही है या नहीं? उसने सन्तोष को यों छोड़ दिया कि वह जिये भी तो अपने लिए और मरे भी तो अपने ही लिए; यानी उसे अपने प्रकाश के बारे में कुछ भी जानने-समझने का अधिकार न रह जाय।

लेकिन आज वह प्रकाश को व्यर्थ क्यों कोसे? होनहार ने ही यह सब कुछ किया, यही कहकर क्यों न अपने को सन्तोष दे? इसी बहाने क्यों न अपने को आश्वस्त करे कि दुनिया में आदमी जैसे चलना चाहता है वैसे चल ही नहीं पाता, दुनिया के धक्के खाकर उसे अपनी राह मोड़नी पड़ती है? प्रकाश की बाँहों में बाँहें डालकर इतने लम्बे-चौड़े जीवन को खे ले जाते, दुनियावाले भला कब देख सकते थे? इसीलिए आज वह इस घाट लगी है; प्रकाश न जाने किस घाट लगा होगा! सम्भव है, वह भी जीने का दम्भ कर रहा हो—जरूर कर रहा होगा—पर वह तो समझ रही है कि वह कैसे जी रहा होगा!

और क्या प्रकाश भी समझता होगा कि मैं कैसे जी रही हूँ? वह जानता होगा कि इन चन्द महीनों में मैंने इन सैकड़ों मोमबत्तियों के सहारे अँधेरी रातों में अपने हृदय का रस जलाया है, इन खाली-खाली दिवसों में अपने अन्तरतम की हरियाली को सुखा दिया

है, वसन्त के विलास और सावन के समाँ को सपने बना-बनाकर उड़ा दिया है और अब धीरे-धीरे एक विस्तृत सूखा रेगिस्तान बनती जा रही हूँ ? मैंने प्रकाश की वेदी पर अपनी आहुति देकर स्वयं को अन्धकारमय करना चाहा है, क्या प्रकाश इसे जानता होगा ? काश वह यह सब जानता !

लेकिन क्यों जानता ? क्या उसके जानने के लिए ही मैं यह सब कर रही हूँ ? यह सब तो मैं अपने सुख के लिए कर रही हूँ न ? जब अपना ही अपना देखना है, दूसरों से अपने को काटकर अलग कर लेना है तो अपने को जिसमें सुख मिले वही मैं क्यों न करूँ ?

और ये हैं कि अक्सर कातर होकर मुझसे पूछ बैठते हैं—'सन्तोष, तुम हमेशा खोयी-खोयी, अपने को भूली-भूली-सी क्यों रहती हो, जैसे अपने इर्द-गिर्द किसी को पाती ही नहीं ? मेरे पास तुम्हें क्या दुख है सन्तोष ? क्या तुम इस तरह अपने को नष्ट······?'

अफसोस कि ये मुझे नहीं पहचान पाते। मैं कितना चाहती हूँ कि मेरे मन की बातें इनके दिल तक पहुँच जातीं, ये मुझे जान लेते कि यह सन्तोष नाम की लड़की जिसे इन्होंने अपने घर में लाकर रानी की तरह बिठा रखा है आखिर कौन है। तब शायद ये इतने दुखी न होते। यदि ये प्रकाश की सन्तोष को जान लेते तब शायद मुझसे घृणा करने लगते और तभी मैं और भी सुखी और सन्तुष्ट होती। ये मुझे कितना चाहते हैं ! मुझे खुश रखने के लिए शायद स्वर्ग को भी पृथ्वी पर उतार लाने को तैयार हो जायँ, लेकिन मैं क्या करूँ ? मेरे हाथ में मेरा अपना क्या है ? मैं स्वयं अपनी कहाँ हूँ ? इस सब कुछ का मालिक तो प्रकाश ही है न ? फिर मैं अपने पति को क्या कुछ दे सकती हूँ ? कहाँ से दे सकती हूँ ?

पति, स्वामी—आह, ये अपने को यही सब क्यों नहीं समझते ? ये यह क्यों नहीं समझते कि मेरी देह के स्वामी हैं, इस पर इनका अधिकार है ? मैं इनकार कब करती हूँ। पर ये यह सब कुछ न कर जैसे अपने

भीतर ही मुझे पा लेना चाहते हैं या कि अपने को तपा-तपाकर मुझमें लय कर देना चाहते हैं। लगता है ये मेरी देह और आत्मा दोनों को चाहते हैं, अकेले किसी एक को ग्रहण नहीं करना चाहते।

अजीब पहेली है, आख़िर यह हो कैसे सकता है!

लेकिन जो सत्य है उसे सत्य रूप में सामने आना चाहिये। सचाई तो इसी में है कि यह विडम्बना टूटे, यह पर्दा फाश हो और फिर जो रास्ता सामने आये उसी पर चल पड़ा जाय। यह जो दुनिया है और यह जो समाज है, उसमें यही तो सिखलाया जाता है कि पति-पत्नी एक दूसरे को धोखा दें, अँधेरे में रखें—क्यं कि इसी में दोनों का कल्याण है, दोनों तभी सुखी रह सकते हैं। मुझसे भी यही उम्मीद की जाती होगी। मैं दुनिया की उम्मीद पूरी भी करती, पर अफ़सोस कि मुझे एक ईमानदार पति मिला! जब मैं प्रकाश की बाँहों से छीनी जाकर किसी गैर के पैरों पर डाल दी गयी तो इसी उम्मीद से कि मैं उसे और स्वयं को धोखा देकर हँसती हुई जीवन बिता सकूँ। यह मैं न कर सकी। चाहे कोई भी पति मिलता, मैं उसके साथ इसी तरह रहती। सम्भव है, मेरी जासूसी की जाती, मेरी चिट्ठियाँ पढ़ डाली जातीं, ये मोमबत्तियाँ तोड़ डाली जातीं और उसके बाद मेरी पीठ की खाल उधेड़ दी जाती, देह की हड्डियाँ तोड़ डाली जातीं और मैं घर के बाहर निकाल दी जाती। लेकिन उसी में मैं अधिक सुख पाती। समाज की करतूतों का जवाब देने का एकमात्र यही तरीका मेरे पास हो सकता था। मैं इस सब कुछ के लिए तैयार थी, पर कुछ भी न हो सका। मैंने सोचा कि खैर, फिर भी जी लूँगी! लेकिन सुख? अब तो मुझे अपने को भुला कर, तपाकर, गलाकर ही सुख मिल मिल सकता था और जब उस पथ पर अग्रसर हुई तो अब पति की छाया मेरी साधना में निरन्तर विघ्न डाल रही है। लगता है कि ये भी मुझसे कम साधना नहीं कर रहे—इनकी वही मौन एकान्त तपस्या तो मुझे अब असह्य होती जा रही है। यह अब अधिक नहीं चल सकता, नहीं चलना चाहिये।

फिर उसके दिमाग में एक बात धीरे-धीरे उभरने लगी। लगा कि यही एक उपाय है जिसके सहारे वह इस सङ्घर्ष, इस निरन्तर द्वन्द से अपने को निकाल सकती है, और उसे यह साहसपूर्ण क़दम उठाना ही होगा। उसमें उमङ्ग भर उठी। उत्साह से वह उठ बैठी। तकिये के नीचे से डायरी और कुञ्जियों का गुच्छा निकाला, पास में ही रखा बक्स खोल कर रेशमी रूमाल में लिपटा एक फोटो निकाला और प्रफुल्ल के कमरे की ओर चल पड़ी। वह अभी शायद सोया नहीं था क्योंकि दरवाजे के शीशे से भीतर रोशनी दिखाई पड़ती थी। उसने किवाड़ों को धीरे से धक्का दिया। वे भीतर से बन्द न थे, खुल पड़े और वह दबे पाँवों पति की चारपाई के पास जाकर खड़ी हो गयी। प्रफुल्ल तकिये में मुँह छिपाये कटे पेड़-सा था, जैसे जीवन की कोई निशानी ही उसमें न हो, या किसी गहरी चिन्ता ने उसे यों झकझोर दिया हो कि उसकी चेतना ही लुप्त हो गई हो। सन्तोष का हृदय जैसे द्रव होने लगा और एक अपरिचित पश्चाताप-मिश्रित वेदना में घुली-सी, ठगी-सी वह रह गयी कि यकायक उसका दाहिना हाथ प्रफुल्ल के सिर तक जा पहुँचा जैसे अचानक वह उसे वरदान देने झुक पड़ी हो।

प्रफुल्ल ने चौंककर आँखें ऊपर कीं। उसे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ। लगा कि वह स्वप्न देख रहा था। देखता ही रह गया वह पत्नी को। यह अनहोनी बात थी, आख़िर वह विश्वास कैसे करता? फिर बहुत प्रयत्न के बाद वह कह सका, 'तुम?'

'हाँ, मैं—एक मतलब से आयी थी।'

'मतलब से!' अब प्रफुल्ल ने कुछ समझा। अब वह समझ सकता था। उसके आश्चर्य के बन्धन कट रहे थे। उसने एक सर्द साँस खींचते हुए कहा—'मतलब से? इस दो बजे रात में कौनसा मतलब सन्तोष?'

'वैसे ही कुछ ख़ास नहीं। आप सुनने को तैयार हों तो कहूँ।'

'हाँ हाँ, मैं तैयार हूँ। और······'

'क्या और?'

'और यही कि तुम फाँसी की सज़ा तो नहीं सुनाओगी न ? और फिर मैं तो उसके लिए भी हर घड़ी तैयार रहता हूँ ।'

'लेकिन मैं फाँसी की सज़ा सुनाने नहीं सुनने, आपसे भिक्षा के रूप में ग्रहण करने आयी हूँ ।' सन्तोष ने दृढ़ता के स्वर में कहा ।

'सन्तोष !' प्रफुल्ल ने कुछ न समझते हुए आश्चर्य से कहा ।

'जी हाँ, मैं अपना अपराध स्वीकार करने आयी हूँ, आप इन चीजों को देख जाइये ।' उसने रेशमी रुमाल में लिपटा एक फोटो और अपनी डायरी पति के हाथ में रख दी और सन्तोष की एक साँस लेकर अलग हट आयी । बाहर बरामदे में आकर इधर-उधर टहलती रही, फिर सीढ़ियों पर पैर करके फ़र्श पर ही बैठ गयी; घुटनों पर कुहनियाँ, हथेलियों पर मस्तक और मस्तक में घोर वात्याचक्र, जिसमें उसका समग्र अस्तित्व दूर आसमान में पहुँच कर तेज़ी से चक्कर लगा रहा है, और वह अपने को सँभाल सकने में असमर्थ है; वह केवल इतना ही देख रही है कि उसके पति वह रेशमी रुमाल खोल कर एक फोटो देख रहे हैं —अत्यन्त सुन्दर, आकर्षक एक युवक का चित्र, जिस पर सुन्दर अक्षरों में लिखा है—'अपनी रानी सन्तोष को-प्रकाश'; चित्र देख कर पति की आँखों में खून उतर आया है, पर अपने को किसी तरह सँभाल कर वह डायरी उठाते हैं, पढ़ना शुरू करते हैं—पर्वतीय प्रदेश और नदी-झरनों का सुन्दर वर्णन, वनवासियों के गीत-नृत्य का चित्रण और उस मनोरम वातावरण में एक देश-सेवक का निवासस्थान, पास ही एक पाठशाला—छात्र और अध्यापक, इन सब का शब्दचित्र, फिर इन डायरी के पन्नों में एक दिन प्रकाश भी प्रवेश करता है । वह साफ देखती है कि प्रकाश का नाम आते ही पतिदेव की भौंहें तन जाती हैं, मुद्रा कठोर हो जाती है, लेकिन वह पढ़ना जारी रखते हैं कि प्रकाश भी उस विद्यालय में अध्यापक होकर आता है । विद्यालय के सञ्चालक उसके पिता से प्रकाश का बहुत विचार-साम्य है—अस्तु, प्रकाश अक्सर वहाँ रहता है—उसके स्वागत-सत्कार का भार सन्तोष पर पड़ता है । फिर

पिता जी एक दिन प्रस्ताव करते हैं कि प्रकाश सन्तोष को पढ़ा दिया करे ताकि वह इस वर्ष एफ. ए. की परीक्षा पास कर ले—फिर पढ़ाई भी शुरू हो जाती है—रोज़-रोज़ यह परिचय-दृढ़ से दृढ़तर और कोमल से कोमलतर होता जाता है और—

चौंक उठती है सन्तोष ! रात के पंछी उसकी बगल में लड़ पड़ते हैं और उसे लगता है कि हम आदमी कहलानेवाले जन्तु भी तो निरंतर अन्धकार में अन्धे बनकर दौड़ते हुए, एक-दूसरे से टकराते हुए लड़ते-भिड़ते रहते हैं; अन्यथा उसे क्या ज़रूरत थी प्रकाश से प्रेम करने की और यदि प्रेम ही करना था तो उनमें आपस में रूठने-मनाने और इसके लिए पत्र-व्यवहार करने की क्या ज़रूरत थी ? यदि ऐसा न किया गया होता तो छोटे भाई के हाथ भेजा हुआ उसका पत्र पिता जी के हाथ में कैसे पड़ जाता और फिर प्रकाश पर तथा उस पर इस तरह की विपत्तियाँ क्यों आतीं ? प्रकाश वहाँ से बुरी तरह अपमानित होकर निकाला क्यों जाता, उस पर क्रूर पिता की मार क्यों पड़ती ?

सहसा सन्तोष ने अनुभव किया कि उसके पति इन बातों को पढ़ते-पढ़ते खुश हो उठे हैं—पिता की छड़ी के जितनी बार उसकी पीठ पर पड़ने की चर्चा आई है, उनकी आँखें हँस उठी हैं। और पिता की तरह क्रूर बनकर वे भी उसकी ओर लपकने वाले ही हैं। पर वह आगे पढ़ रहे हैं—वह परीक्षा देने जाती है—होस्टल में ठहरती है—परीक्षा-भवन के फाटक पर प्रकाश अनायास ही मिल जाता है। वह प्रसन्नतापूर्वक परीक्षा देती है—नित्य ही शाम को वे दोनों मिलते, शहर में घूमते, कभी नौका पर और कभी सिनेमा जाकर भी आनन्द लेते और इस तरह परीक्षा के दिन समाप्त होने को आते हैं। प्रकाश प्रस्ताव करता है कि वे दोनों सिविल-मैरिज कर लें, किन्तु सन्तोष की राय है कि पिता की आज्ञा बिना वह कुछ भी नहीं कर सकेगी—अपने क्रूर, हठी पिता को वह जानती है मगर अपने को मिटा कर भी वह उन्हें राज़ी कर लेने का प्रयत्न करेगी; फिर रेशमी रूमाल में अपना फोटो और आँसुओं की

उमड़ती धारा देकर प्रकाश उसे बिदा करता है। घर पहुँच कर सन्तोष पिता से प्रस्ताव करती है, उनके चरणों पर गिर-गिर पड़ती है कि वह प्रकाश से ही विवाह करेगी; किन्तु पिता के पास इसका उत्तर केवल बेंत है। बाहर प्रेम से शासन करने वाला देशसेवक अपने घर में छड़ी से शासन करने में पटु है! अस्तु, जब सन्तोष पीट-पीटकर कई बार बेहोश कर दी जाती है तो उसे एक दिन प्रकाश का भी पत्र मिलता है—'सन्तोष, मुझे भूल जाओ। सुना है कि प्रफुल्ल से तुम्हारी शादी ठीक हो चुकी है और तुम हठ कर रही हो, मुझसे शादी करने की। यह जीवन अमूल्य है, इसकी रक्षा करनी चाहिये। तुम प्रफुल्ल से शादी कर खुशी-खुशी जीवन के दिन बिताओ—और मुझे तो सदा के लिए भूल जाओ। यह मेरा अन्तिम पत्र है।'

सन्तोष सब कुछ भूल गयी—भूल गयी कि वह अन्धकार में है, ज़मीन पर है, दुनिया में है—उसकी आँखों में अपना अस्तित्व मिट गया। वह नहीं जानती कि वह कौन है, क्या है, क्यों है, कहाँ है? प्रकाश···प्रकाश···सब तरह उसे प्रकाश ही दिखाई पड़ने लगता है; अनन्त शून्य जिसमें अनन्त प्रकाश का निर्झर-स्रोत प्रवाहित हो रहा है और वह जैसे निराकार होकर उसी प्रकाश-धारा में बेसुध होकर बहती चली जा रही है···!

न—जाने वह कब तक इस स्थिति में रही कि अचानक उसे पीछे से पति के कमरे के कमरे के किवाड़ों के खुलने की आवाज सुनाई पड़ी। वह चौंक उठी, अपने क्रूर पिता की उसे याद हो आयी, उनका रौद्र स्वरूप आँखों में उतर आया और वह सोचने लगी कि उसके पति भी डायरी पढ़ने के बाद या तो हाथ में पिस्तौल लेकर आयेंगे या स्वयं अपनी हत्या कर लेंगे। वह बिलकुल तैयार होकर बैठ गयी—यदि उन्हें आघात करना ही हो तो पीठ पर ही करें और यदि बिना आघात किये ही घर से निकाल देंगे तब भी उसे आश्चर्य न होगा। उसने आँखें फिर बन्द कर लीं।

प्रफुल्ल धीरे-धीरे उसके पास आकर खड़ा हो गया। बाहर उषा की उजियाली फैलने लगी थी। फिर भी आसमान के बिखरे तारों की ओर एक बार देखकर प्रफुल्ल ने अपना हाथ पत्नी के सिर पर रखते हुए कहा, 'सन्तोष, कमरे में चलकर सो रहो। आज सबेरे चाय के बाद प्रकाश को एक पत्र लिखना होगा। मैं उसे जानता हूँ। कल ही वह यहाँ आ जायेगा। उठो।'

और फिर वह सन्तोष की बाहें पकड़कर उसे उठाने लगा। सन्तोष की सारी सृष्टि जैसे मृदुता की चट्टान पर झनझनाती हुई गिर कर चूर-चूर हो गयी। वह न हँस सकी, न रो सकी—बेहोशी की दशा में ही वह पति के सहारे धीरे-धीरे उठी, खड़ी हुई; कि यकायक उनके चरणों पर गिर पड़ी, उनसे लिपट कर रोने लगी। उसने कहना चाहा, 'नहीं, रहने दो, न बुलाओ प्रकाश को' कि प्रफुल्ल ने उससे अपने पाँव छुड़ाते हुए कहा—'यह क्या कर रही हो सन्तोष? यह पागलपन ठीक नहीं, बस अब उठो।'

और सन्तोष के हिलते हुए अधर भी निस्पन्द हो गये।

श्री श्रीपालसिंह क्षेम

क्षेम जी कविताओं से कहानी के क्षेत्र में उतरे हैं। मधुर शब्दावली, इन्द्रधनुषी कल्पनाएँ और मधुभाषी भाषा के गीतों में ही क्षेम की कला अपने सम्पूर्ण गौरव के साथ इठलाती हुई चलती है। लेकिन अपनी कहानियों में कवि ने अपने गीतों का माधुर्य भी उतार दिया है।

कहानियाँ कम लिखी हैं, गीत काफ़ी। इसीलिए गीतों का आकुल भावावेश, कहानियों में भी आ गया है। कवि की भावुकता कभी-कभी कहानियों की सहज टेकनीक के सूत्र अस्तव्यस्त कर देती है, लेकिन उसमें भी अपनी एक मिठास तो है ही।

इस समय आप जौनपुर के डिग्री कालेज में हिन्दी विभाग में अध्यापक हैं और जौनपुर 'परिमल' के सदस्य!

प्रेम और जीवन

१३, कमला नेहरू रोड,

प्रयाग।

मेरी टूटती साँसों का अन्तिम स्वर,

बरसात के ये घिरे-घिरे धूमिल दिन, रह-रहकर बूँदों की रुनझुन गुंजार थिरक जाती हुई श्रावणी झरियों की छटा और मां वसुन्धरा का शालियों से बुना श्यामल दुकूल का लहराता अंचल-छोर—कैसे सुहावने क्षणों में मेरी विदाई का आह्वान हो रहा है। मेरी डोली सजाई जा रही है शायद पीहर जाने के लिए, उस पीहर को जहाँ से कह नहीं सकती कब फिर तुम्हारे चरणों के दर्शन हो सकें। मेरे मन्दिर के देवता! पुजारिन से आज शायद उसकी आराधना का अधिकार ले लिया जाने वाला है! मेरे तुच्छ फूलों में न कोई रस रहा है और न परिमल का सुवास; फिर भी तुमने उसे अपनाया। इसके लिए पुजारिन के रोम-रोम आभार से झुके जा रहे हैं। मेरे सपनों के राजा मेरे जीवन की उजाड़ बगिया में तुम्हारे प्रेम के कोकिल-स्वर ने मधु-ऋतु का वैभव छा दिया, मीठे सपनों की कोपलें भर दीं किन्तु आज शायद वह बगिया ही मिट जाने को है! मेरे आसमान के चाँद, तुमने अपने प्रेम की चाँदनी से मेरी कुहानिशा को प्रकाश-रश्मियों से जगमगा दिया! तुम रहे वादक और मैं वीणा का साज़! तुमने अनेकों स्वर फूँकें और मैं आनन्द की

विविध रागिनियों में बजती रही। मैं थी राह की अकिंचन धूल और तुमने उसे उठाकर ताज पर चढ़ा लिया। किन्तु मेरे प्राणों के प्रियतम, तुम्हारी यह प्रेम-पुजारिनी, मेरे पारिजात, तुम्हारी यह स्वर्ण-छाया आज तुम्हारे साधना-मन्दिर से उठ जानेवाली है! मुझे अब तक याद हैं वे दिन जब मेरे पिता मेरी मां और मुझे प्रयाग की गलियों में दर-दर भटकने को अनाथ छोड़कर सदा के लिए चले गये। मकानवाले का कई महीनों का किराया बाकी रह गया था। श्राद्ध भी न बीतने पाया था कि उसने सामान नीलाम करवाकर घर से निकल जाने का फ़रमान भिजवा दिया। तीन दिनों की भूखी मेरी माँ और मैं, मुझे अच्छी तरह याद है, उस भीगती हुई सांझ में उस दिन सड़क के किनारे बैठी थीं कि तुम्हारी साइकिल आ गई। हम लोगों को उदास बैठे देखकर तुमने पूछा था, "आप लोग कौन हैं? क्या आप लोगों से मैं पूछ सकता हूँ?" मां रोते हुए सारी कहानी कह डाली और तुम भरी-भरी आँखों को धरती पर गड़ाये और कभी रूमाल से मुँह रगड़ते हुए—सुनते जा रहे थे। उसके बाद का क़िस्सा तो तुम्हारी सहृदयता का—तुम्हारे देवत्व का इतिहास ही रहा है!

चैत की साँझ थी और धूसर-धूसर दिशाएँ, भगवान भुवन-भास्कर दिन के वियोग में साश्रुनयन अस्ताचल की घाटियों में छिपे जा रहे थे। बैठक की चौपाल, आये हुए मेहमानों और भाई-बन्धुओं से भरी हुई थी जब तुम्हारे विवाह का प्रस्ताव लेकर एक तहसीलदार साहब आये थे। तुम्हारा साहस! तुमने उसी पिता की बातों का खुलेदिल से प्रतिवाद किया जिसकी भक्ति को तुम अपने जीवन की सिद्धि समझते रहे थे। पिता जी लाल-लाल विकराल आँखें, और तुम्हारे वह नतमुख दृढ़निश्चय, "मैं कमल से ही शादी करूँगा, नहीं तो आजीवन कौमार्य पालन करते हुए पिता जी की चरण-छाया में ही समय बिता दूँगा।" सारी बातें मेरी बुझती आँखों में आँसुओं के साथ तिरती-सी आ रही थी!

तुमने पिता के विरुद्ध, भाई-बन्धुओं के विरुद्ध और समाज के

विरुद्ध मुझे अपनाया। मुझ अनाथिनी की बाँह गही। पिता के कोप-भाजन बन चालीस रुपये के 'ट्यूशन' पर मेरा और पढ़ाई का भार एक साथ सँभाला, पर तुम झुके नहीं अपने निश्चय के सामने—हिमालय से अटूट अपने निर्णय के समक्ष !

मैं अभागिनी जो ठहरी ! विवाह के छः मास के बाद ही मां ने भी मेरे सर से अपना आँचल उठा लिया। मैं ओसारे में बैठी रो रही थी और तुम अपनी गोद में मेरा सिर झुकाये समझा रहे थे—"रोओ न कमल, धैर्य धरो, सोचो न, तुम्हीं संसार में अभागिनी नहीं हो ! जाने कितने अनाथों के करुण-क्रन्दन से यह आकाश प्रतिपल भर रहा है। फिर तुम्हारे साथ ही तो मेरे भाग्य का छोर भी जुड़ा है! प्रिये, हम दोनों विपदाओं की झंझा के नीचे से एक दूसरे का हाथ पकड़े चले चलेंगे। कौन जाने भविष्य में क्या है ?"

बचपन की दीनता से जर्जर मेरा स्वास्थ्य ! सदा तुम मेरी बीमारी ही की चिन्ता में घिरे रहे। यही चारपाई का सिरहाना, यही जिसे आज तुम्हारी अनुपस्थिति में काँपते हुए हाथों से जोर से दबाये जा रही हूँ—तुमने कितनी ही ठंड से काँपती माघ-पूस की रातें, चैत-बैसाख की कितनी ही धूसर संध्याएँ मुझे बहलाने के लिए कहानियाँ कहकर बिताईं। तुमने न दिन को दिन समझा और रात को रात। माना मेरे दुःख में तुम्हारे शीतल स्पर्श का सुख था, किन्तु तुम्हारे जीवन के मधुमासी प्रभात में तो मैं संध्या की छाया ही थी न !

सोचती हूँ क्या लिखती जा रही हूँ, क्योंकि यह सब मेरा अकेले का ही अनुभव न था किन्तु क्या करूँ दिल नहीं मानता। बीती स्मृतियाँ नवीन होकर एक नवीन दुर्निवार आकर्षण से मुझे खींचे जा रही हैं। मन कहता है सब कुछ उँड़ेल दूँ ; जो कुछ तुमने दिया है सभी को इन टेढ़े-मेढ़े अक्षरों में सजाकर तुम्हारी अन्तिम भेंट कर दूँ। मुझ अकिंचना के पास और तो कुछ न रहा, केवल तुम्हारी स्मृतियाँ जिन्हें आज अपने जीवन की सघन साँझ से तुम्हारे काल्पनिक चरणों पर बरसा दूँ ! मेरे

देव ! आज हमारे-तुम्हारे प्रणय जीवन का तीसरा वर्ष समाप्त हो रहा है, कौन जाने इसके साथ ही आज हमारा जीवन-दीप भी बुझ चले। इसी से सोचती हूँ इन आँखों को मूँदने के पहले एक बार तुम्हें देख लेती। सदा अपनी ओर से तुम्हें दुख ही देती आई, सुख न दिया, तो आज सबकी महापरिणति पर तुम्हें एक कष्ट और देती। तुम्हारे कोमल हाथों का अन्तिम सुखद स्पर्श, प्राणनाथ ! क्या तुम मेरी इस अन्तिम कामना को पूरी कर सकोगे ? मानती हूँ नौकरी का मामला है और निस्सन्देह आज के दिन नौकरी का छूट जाना, जीवन का छूट जाना है ! किन्तु— किन्तु मेरे देवता...तुम्हारी पुजारिन......देखो, देखो, चारों ओर से आँधियाँ-सी उठती आ रही हैं, दिशाओं का अन्धकार घनीभूत होता जा रहा है। रात मेरा दम घोटती आ रही है—लगता है जैसे अब मेरे जीवन का नन्हा दीप बुझकर ही रहेगो, क्या ही अच्छा होता यदि इसकी लौ बुझते-बुझते तुम्हारे चरणों की छाया छू पाती। क्या लोगे मेरी साँसों की अन्तिम आरती—आँसुओं का अन्तिम अर्घ्य मेरे देव !

तुम्हारी सुधि में ही दम तोड़ती हुई—

तुम्हारी 'कमला'

पत्र को समाप्त करते करते दिनेश ने अनुभव किया, उसका सर चकराता आ रहा है। आँखों के आगे अंधकार छाता जा रहा है। कहीं गिर न पड़े, अतः पत्र को छाती से चिपटाते हुए चारपाई पर धमाके के साथ गिर पड़ा। उसे लगा जैसे एक साथ सैकड़ों बर्छियाँ उसके हृदय में धँसाई जा रही हों और उसके मुँह में जड़ता का पत्थर भर दिया गया है। नगर के राज-मार्ग पर बिजलियों का प्रकाश-पुंज जगमगा उठा, उन मोटरकारों के आने-जाने से संध्या की बेला कुछ अधिक घनी हो चली है और जैसे संसार का दिन भर से चलता कठोर कर्म-चक्र कुछ ढीला और अश्वस्त होता जा रहा है। नौकरानी आई और किवाड़ की जंजीर बजाकर बाहर से ही लौट गई। दिनेश कमरे में ही पड़ा रह गया। दुष्कल्पनाओं के शत-शत छाया-रूपों से उसके मस्ति-

ष्क के तार-तार झकझोर उठे थे। वह रात भर सोता रहा, स्वप्न देखता रहा अथवा जागता रहा, इसका उसके चेतन को कुछ भी ज्ञान न रहा।

* * *

दूसरे ही दिन दिनेश सबेरे ही उठा और बिना नहाये-धोये ही साइकिल उठाकर दफ्तर की ओर चल पड़ा। मुख एकदम निस्तेज, बाल बिखरे हुए और कपड़ों का सजाव अस्तव्यस्त। देखने से भान होता; किसी ने अभी अभी उसकी मुखाकृति की सारी चमक यन्त्र से खींच ली है और उसके स्थान पर उसके मुख की रेखाओं में विषाद की घनी-काली लकीरें भर दी हैं। वह शून्य की भाँति यन्त्रवत् दफ्तर की ओर चला जा रहा था। वहाँ जाकर वह पन्द्रह दिनों की छुट्टी का प्रार्थना-पत्र अपने सहकारी को देकर डेरे पर लौट आया।

दिनेश जब लखनऊ स्टेशन पर आकुल विचारों में उलझा कभी बोझिल-बोझिल आँखों से इधर देखता और कभी उधर, कभी हाथ की मुट्ठियों में अपनी जँभाई का स्वाँस-भार भर देता कि ठीक दस बजे प्रयाग जानेवाली गाड़ी प्लेटफार्म से आ लगी। यात्रियों का इधर-उधर विश्राम करता हुआ समुद्र डिब्बों की ओर उछल पड़ा और भीतर के यात्री बाहर भी न निकल सके थे कि दरवाजों के भीतर चढ़नेवाली भीड़ कस उठी। थोड़ी देर तक दिनेश ने प्रतीक्षा की, शायद अब भीतर जाने का रास्ता मिल जाय! उसे जगह जमाने की उतनी चिन्ता न थी, क्योंकि उसे तो किसी भांति रात को दम रहते तक जागकर बिताना है, सबेरे ट्रेन प्रयाग पहुँच ही जायगी। गाड़ियों की कमी से यात्रियों की भीड़ इतनी बढ़ गई थी कि लोग इंटर और सेकंड क्लास तक के डिब्बों में कसे खड़े थे। टिकट और दर्जे का प्रश्न ही जैसे वहाँ न था। दिनेश ने देखा, ऐसे शायद जगह भी न मिले और गाड़ी भी छूट जाय। उसने खिड़की से अपना सामान एक इंटर क्लास के डिब्बे में फेंक दिया और स्वयं खिड़की से ही उछलकर भीतर जाने लगा कि भीतर की भीड़ की कसमकस ने उसे ठेल कर एक कोने में ला खड़ा कर दिया! दस मिनट गाड़ी

चल देने के बाद जब सब बैठ गये, तो उसने अपना बेग खोजना शुरू किया। पैरों की लतामर्द में पिचका हुआ उसका झोला बर्थ के नीचे मिला और उसको नीचे रखकर खड़े-खड़े खिड़की से मुंह लगाकर बाहर देखने लगा।

ट्रेन अपनी पूरी गति से झकझकाती चली जा रही थी और दिनेश की आँखें झटके के साथ सामंजस्य में आगे पीछे बढ़ती हुई बाहर की चाँदनी में खोई जा रही थीं। जब भीड़-भाड़ की अतिरिक्त व्यस्तता से मन में शान्ति हुई, तो दिनेश के आगे अतीत के अनेकानेक टेढ़े-मेढ़े सरणियों के द्वार खुल गये। वह सोचता जा रहा था और लेखन-यन्त्र (टाइप-राइटर) की भाँति ट्रेन के हलके झटके उसके स्मृति-पत्र को जैसे आगे खिसकाते जाते और बीती घटनाओं के अक्षर उस पर छपते जाते। वह सोचता जा रहा था, किस प्रकार उसकी पढ़ाई के दिनों में कमल और उसकी माँ से उससे भेंट हुई और किस प्रकार उसने उन्हें लाकर पास के घर में उन्हें ठहराया। कमल के साथ उसका पहला संस्मरण—आह! वह हरिणी-सी भोली-भाली लड़की अपने जीर्ण वस्त्रों में किसी निर्वासित-अभिशप्ता देवकन्या की भाँति मन में कितनी दया को उभाड़ दे रही थी। उसके दुबले-पतले मुख की मलिन रेखाओं में जैसे करुणा रो रही हो! विपत्ति की वह करुण दशा और उसकी माँ! वह तो जैसे साक्षात् कोई वृद्धा वनदेवी हो, जिसे विपत्तियों की आँधी ने उड़ाकर इस नृशंस समाज के जाल में डाल दिया हो!

एक संध्या को जब दिनेश उसके घर गया था तो बहुत सी सुख-दुःख की बातों के बाद उस तपस्विनी ने भीगे कोरों से कहा था, "बेटा दिनेश तुम्हारे उपकार से मैं जीवन भर उऋण नहीं हो सकती। तुमने जैसा किया भगवान् करे विपत्ति में शत्रु को भी वैसा ही सहारा मिले। बेटा बस एक बात की चिन्ता इस वृद्धा को और दुखी बाये हुए है! तुम्हारी कमल अब सयानी हो चली है और अब कहीं किसी सुपात्र के हाथ इसे सौंप पाती तो एक बहुत बड़ा भार हलका हो जाता और तब

दिनेश ने कहा था—"माँ जी मुझे ध्यान है। मैं भी कमल के लिए कम चिन्तित नहीं। मैंने अपने एक मित्र से बात चलाई है। वे मेरे साथ बी० ए० में ही पढ़ रहे हैं, पहला साल है, और कुछ उदार और नये विचार के मालूम पड़ते हैं। हमें आशा है हम अपने कार्य में शीघ्र ही सफल हो जायेंगे।"

और तब माँ ने जैसे रोम-रोम के आशीष को स्वरित करते हुए कहा था—"बेटा, कमल तो तुम्हारी है ही, मैंने उसके लिए क्या किया और क्या करने योग्य थी ही।" और इतना कहते ही उस वृद्धा की आँखें छलछला आई थीं। कमल वहाँ से हट गई थीं।

दिनेश ने कितने ही मित्रों से बात चलाई। कितनों ने ही अपनी प्रगतिशीलता का दम भरा, किन्तु जब वह उनके आन्तरिक विचारों से परिचित हुआ, तो उसे बड़ी ग्लानि हुई और वह सोचने लग जाता कि जब देश के शिक्षित नौनिहालों की यह दशा है तो भगवान इस देश का कल्याण करें! ऊँचे विद्यालयों में पढ़नेवाली देश की नई पौध नैतिकता में इस भांति गिर गई है, उसका मन घृणा से भर आता।

कमल से शादी ही कौन करता? जितने ही उच्च विचारों के सम्पर्क में वे लाये जाते हैं, स्वार्थ की निकृष्ट भावनाएँ उनमें घर करती जा रही श्वशुर के धन से विदेश जाने की कामना और एम० ए०-बी० ए० की शिक्षिता लड़कियों के साथ ब्याह कर एक निकृष्ट अस्वस्थ यौन-तृप्ति की सुनहली आशा में 'एडवांस' बननेवाले विश्व-विद्यालय के विद्यार्थी, ऐसी लड़कियों के रोमांस भले ही लड़ा सकते हैं, किन्तु ब्याह का उत्तरदायित्व! आह, इससे तो वे बहुत दूर भागना चाहते हैं। रही बात मध्यम श्रेणीवालों की, वे तो हाड़ और खून देखते हैं, वंश की उँचाई देखते हैं। कमल चारों ओर से अनाथ थी। दिनेश के आदर्श दिनों-दिन उसे कमल की ओर गहरा बनाते गये और......दिनेश के मन में उसके विवाह का वह सुनहला दृश्य उदित हो उठा जब पिता और सगे-सम्बन्धियों के लाख समझाने पर उनके शब्दों में अपने भविष्य के शव पर उसने कमल

का हाथ पकड़ा था, जिसमें केवल विश्वविद्यालय के कुछ साथी, प्रोफेसर सक्सेना और शहर के कुछ आर्य-समाजी उदार नेता ही आ पाये थे। साथियों ने फबतियाँ भी कसीं पर वह इन सबके बहुत ऊपर था।......

कुछ दिनों के बाद कमल की माँ भी स्वर्ग को चल बसीं और पिता के कोप का भाजन दिनेश उसी घर में कमल के साथ रहने लगा। ज्यों-ज्यों दुनियाँ के धागों ने दिनेश को छोड़ना शुरू किया, कमल के साथ उसके प्रेम का धागा दृढ़ होता गया। वह ट्यूशन करके जो कुछ चालीस-पचास लाता उसी से गृहस्थी चलती। कमल वर्तन स्वयं मांज लेती, घर की चक्की में अनाज पीस लेती और भोजन बनाकर दोनों प्राणी खा लेते। धीरे-धीरे कमल और दिनेश का प्रेम इतना गाढ़ा हो गया कि संसार की काली भौतिक छायाओं के ऊपर उनका स्वर्ग दिनोंदिन सुनहला ही होता गया! पारस्परिक प्रेम की आर्द्र भावुकता ने उनके सारे अभावों की शुष्कता को ढक लिया। "अभाव तो मन का असंतोष है" दिनेश कहता—"मनुष्य जितना ही चाह बढ़ाता जाता है, उसकी अभाव की खाई उतनी ही फैलती जाती है और इसी चाह के लोभ में एक दिन वह अनजाने में अपनी मृत्यु की भी चाहना कर जाता है।

प्रेम की इस गम्भीरता ने अपनी रेशमी किरणों के द्वारा कमल के मन का विषाद भी धो दिया था और उसकी आँखों में दिनेश के नित्य नवीन सपने भरते आते। दिनेश ने उसकी अधूरी पढ़ाई को भी पूरी करवा दी थी और अब कमल प्रवेशिका की योग्यता तक पहुँच चुकी थी। उसके लेख फूल के अक्षर जैसे पत्रों पर हृदय को लेकर उतर आते और दिनेश के खाली क्षणों के लिए ये पत्र एक शान्तिप्रद मनोरंजन बन गये थे।......दिनेश के मुंह पर हवा का एक ठंढा झोंका लगा और तब उसने सजग होकर मुंह भीतर करते हुए एक बार डिब्बे के भीतर दृष्टि डाली। यात्रा की थकावट और ट्रेन के हलके-हलके झोंकों ने यात्रियों की की पलकों में एक मधुर तन्द्रा का सृजन कर दिया था। इस बीच गाड़ी दो-एक स्टेशनों पर खड़ी भी हो चुकी थी और काफ़ी मुसा-

फिर उतर चुके थे। अब डिब्बा कुछ सुविधाजनक हो गया था। वह खड़ा हो गया और कुछ लोगों से खिसकने की प्रार्थना कर झोले को बगल में रखकर फैलकर बैठ गया। जेब से एक सिगरेट निकाली और पीने की आदत न रहने पर भी यात्रा में सहायक समझकर एक जलाई। ऊपर से ही पीते हुए, नाक से कड़ुवे-कड़ुवे धुएँ के दो-तीन कश निकाले और फिर सुस्थिर होकर बैठ गया। दिनेश की भीतरी आंखें फिर अतीत के अक्षरों पर दौड़ गई......

दिनेश के लिए साल के बीतते न बीतते, कमल एक अनिवार्य अंग बन गई। न कमल के लिए दूसरा नाता था और न दिनेश के लिए दूसरा प्रिय-पात्र! वह पढ़ाई छोड़ चुका था और 'सेक्रेटेरियेट' में ७५) का लेखक था। दफ्तर से शाम को पाँच बजे छुट्टी पाता और साइकिल से आध घंटे में कमला नेहरू रोड के मकान नम्बर १३ में आ जाता। जलपान के बाद दफ्तर का काम पूरा करने बैठता। कमल भी बगल में बैठकर अपने हास-परिहास की रोशनी में काम पूरा करवा देती। इसके बाद चारपाई आँगन में निकाल कर दिनेश रसोई के छज्जे के सामने बैठ जाता और कमल प्रेमपूर्वक खाना पकाने में लग जाती। इसी प्रकार सुगन्धि के एक झोंके की भाँति घर का रात-दिन बीत जाता। दफ्तर में दिनेश काम से विश्राम के क्षणों में रात के अगले सपने की कल्पना करता और यहाँ कमल बैठी-बैठी कभी कुरुस से ऊनों में सपने बुन डालती, कभी किताब उठाकर जी बहलाती और कभी खिड़की से कान लगाकर सुन आती घंटी की उस टनटनाहट को जिसकी झनकार का एक तार सदैव उसके प्रतीक्षाकुल मन में झनझनाया करता।......

सहसा दिनेश को लगा, उसके सीने पर कुछ ठंढ की आर्द्रता-सी लग रही है। उसने देखा आँसुओं की एक पाँत ढुलककर उसकी ठुड्डी से सीने पर टपक रही है। उसने सजग होकर इधर-उधर देखा और झट रूमाल निकालकर मुंह पोंछ डाला। सिगरेट जलकर अब लगभग उसकी उँगलियों तक पहुँच चुकी थी! उसने राख झाड़ते हुए एक कस

खींची और उसे बाहर फेंक दिया ।......

सहसा दिनेश को उसकी बीमारी और उसके पत्र की सुधि फिर हरी हो आई और वह विकल हो उठा । अब उसका मन अतीत की शृङ्खला को सिहलाते-सिहलाते वर्तमान कड़ी तक पहुँच चुका था । बीते दिनों के रंगीन चित्र सहसा भविष्य और वर्तमान के विषाद में डूब गये और उसके सामने चारपाई से सटी, क्षीणकाय, दयनीय कमल का चित्र आ गया जिसके चारों ओर मणि के साँप की भाँति उसका मन घूमने लगा। ट्रेन अपनी गति में बढ़ी जा रही थी और उसका मन अपने केन्द्र के चारों ओर मँडराता रहा !

* * *

चारों ओर रात्रि का घना अन्धकार जैसे किसी प्रतीक्षा में चुपचाप अचल खड़ा हो । बाहर एकदम निःस्वन वातावरण जैसे किसी महा उत्पात की आशंका में मौन हो गया हो । पश्चिम के आकाश की ओर लुढ़कता चन्द्र कुछ भयभीत होकर जैसे रुक-सा हो गया था । कमरे में दीपक पर मिट्टी के तेल का एक चिराग प्रकाश से अधिक अपनी दुर्गंध से कमरे को भर रहा था । बीच से थोड़ा हटकर पश्चिम की दीवाल से लगी रोगी की चारपाई थी । सामने दो बालिश्त की दूरी पर एक स्वच्छ तिपाई पर सुराही, जो एक शीशे के गिलास से ढंकी थी, एक लाल दवा से भरी शीशी तथा दो पुड़िया दवा भी रखी थी । दक्षिण ओर कमरे के आर-पार पूर्व-पश्चिम लगी रस्सी, जिस पर कपड़े टँगे थे और जिसके नीचे एक चालीस-वर्षीया वृद्धा औरत पड़ी ऊँघ रही थी । बाहर कभी कुत्ते भूंक जाते । धीरे-धीरे रात अपने चतुर्थ प्रहर के मध्य में आ रही थी । सहसा रोगी बर्रा उठा—"आह, प्राणनाथ मैं...मैं आ रही हूँ......आप...आ गये । अच्छा मैं उठी......"

"क्या है बहू ! कौन आ गया ?" बुढ़िया चटाई पर से उठ बैठी और लगी सम्भ्रम दृष्टि से इधर-उधर देखने ! "क्या है बहू, क्या है ? पानी चाहिए ?"

रोगी ने जगकर कराहते हुए कहा—"कुछ...नहीं, कोई...न...हीं।" फिर एक क्षण के मौन के बाद बड़े जोर की खाँसी आई और उसके स्वर से सारा कमरा गूंज उठा। "कितनी रात है, धन्नो जीजी?" और उन मर्माहत शब्दों की पीड़ा से कमरे का सारा वायुमंडल काँप उठा "अभी रात है बहू, आराम कर लो।" वृद्धा ने कहा। "आराम......ही तो...करती हूँ जीजी, वे अब तक आये...नहीं।"

"आ जायँगे, बहू अभी आज सुबह पत्र मिला होगा।"

रोगी ने एक कराह के साथ करवट ली और एक बार चिराग की धुँली सी लौ से बुझती आँखें मिलाकर पलकें बन्द कर लीं। दूर पार्क की इमली पर से नीलकंठ चीख उठा। धीरे-धीरे दूर सड़कों पर इक्के-तांगों की घड़घड़ाहट सुनाई पड़ने लगी, जिसका स्वर प्रभातोन्मुख वायु की लहरों से आकर कमरे की निस्तब्धता मे विलीन हो जाता था। धन्नो जीजी एक बार उठीं और कमरे के बाहर आँगन में झाँक आईं। चाँद प्रतीची पर बेहोश होकर गिरा जा रहा था। अन्धकार का दम घुटता जा रहा था और पूर्व में फूलकर बाहर निकली आती हुई आँखों की ललाई जैसे गहरी होती जा रही थी! धन्नो भीतर चली आई और किवाड़ लग गये।

* * *

ज्यों ही लखनऊ ट्रेन प्रयाग स्टेशन पर लगी, दिनेश उछलकर प्लेटफार्म पर आ गया। गेट पर टिकट दिया और एक तांगे पर झोला रखते हुए कहा—"कमला नेहरू रोड चलो।" तांगेवाले ने कहा, "अच्छा बाबू, अभी पहुँचाया" और घोड़े पर कोड़ा फेंकते हुए पूछा—"बाबू जी आप कहाँ से आ रहे हैं? आप तो यहीं 'सिकरेत' में न काम करते हैं?" दिनेश ने देखा, तांगावाला उसी के मुहल्ले का है, उसने कहा, "हाँ, लेकिन अब हमारा दफ्तर लखनऊ चला गया है और मैं एक महीने से वहीं था।"

तांगेवाला तेजी के हाँकता हुआ कटरा पार कर चुका था और

दिनेश मुख पर चिन्ता की रेखाओं से घिरा हुआ किसी गहरे विषाद में डूबा जा रहा था।

तांगा मकान के सामने रुक गया और दिनेश ने जल्दी से पैसा बढ़ाते हुए कहा, "रोको" दिनेश ने उतरते ही देखा, धन्नो जोजी वायु-वेग से उसकी ओर बढ़ती आ रही थीं और हाथ पकड़कर बोलीं—"दिनेश भैया, दिनेश भैया, बड़ा गजब हो गया। बहू को डाक्टर ने तपेदिक बतलाया है और कहा है कि इन्हें अलग रखा जाय और इनके पास सब न आवें।" दिनेश को काटो तो रक्त नहीं! 'तपेदिक' उसको मानो बिजली मार गई—"इनके पास कोई जाय न नहीं तो...!" दिनेश के पैरों में पत्थर बँध गये थे। वह जैसे घसीटता हुआ आगे बढ़ता जा रहा था।

"बहू, बहू, उठो, देखो दिनेश भैया आये हैं।" सुनते ही जैसे रोगी में सौ गुनी शक्ति आ गई—"कहाँ ?" और एक झटके के साथ उठना चाहती थी कि चारपाई पर गिर पड़ी।

खिड़की से आती हुई पीली किरणों के उदास प्रकाश में दिनेश ने देखा, कमल—उसकी कमल अब कंकाल में बदल गई है। वह क्या जानता था कि उसकी बीमारी इतनी बढ़ जायगी और उसका लखनऊ जाना पाप हो जायगा। चिकने-फूले-कोमल गालों की उभड़ी हड्डियों की सिकुड़न और सफेदी से भरा चर्म मढ़ रहा था। आँखें बुझती जा रही थीं। एक बिजली की लहर में वह अपने सपनों की राख देख गया। वह चारपाई के पैताने पैर रखकर खड़ा हो गया। उसकी एकटक आँखों ने देखा, कंकाल फिर उठने का प्रयत्न कर रहा था। धन्नो बाहर चली गई।

कमल ने कहा—"मेरे प्रि...य...त...म...मुझे...गो...द...में... ले...लो...मैं...तु...म्हें...एक...बार...चू...चूमना...चाहती...हूँ" और कहते-कहते आकस्मिक उद्वेग के संघात से एक बार वह फिर चेतना शून्य होने लगी। दिनेश की आँखों से आँसुओं की धारा फटी आ रही

थीं। छाती के तन्तु तनते जा रहे थे। किन्तु जाने क्यों वह जड़ हो गया—आगे न बढ़ सका। एक बार कंकाल की आँखें फिर हिलीं और उसके हाथ शून्य में कुछ स्पष्ट ध्वनि के साथ उठे, फिर गिर गये। कमल की आँखों से आँसू की अविरल धारा बही जा रही थी। आँखों की बुझती ज्योति जैसे अब भी दिनेश के आँसुओं में प्रतिबिम्बित हो रही थी, किन्तु दिनेश रोता रहा—उसी प्रकार खड़ा रोता रहा !

सहसा कमल को एक जोर की खाँसी आई और फिर उसका मुँह कुछ खुलकर रह गया—आँखें खुलकर टँग गईं। दिनेश के पैर कँपे। एकाएक वह पीछे की ओर लड़खड़ा पड़ा। लड़खड़ाने की आवाज़ सुनकर धन्नो जीजी जब कमरे की ओर बढ़ीं, तो दिनेश सिसकता हुआ बाहर चला आ रहा था। धन्नो जीजी सहसा चीख उठीं। कमल दुनिया से उठ गई थी। जिस कमल के लिए उसने घर छोड़ा, भविष्य के सुनहले सपने छोड़े, उसी को अन्तिम क्षणों में एक चुम्बन न दे सका ! यही है जीवन की विवशता, जहाँ प्रेम भी पराभूत हो जाता है।